

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

एकोनविंश भाग

(अध्याय 6, सूत्र 1 - 27)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'मोक्षशास्त्र प्रवचन एकोनविंश भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र अध्याय 6 के सूत्र 1 से सूत्र 27 तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 1500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम।।टेक।।
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
 दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
 अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानन्द०।।१।।
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०।।२।।
 आऊं उतरूँ रम लूँ निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०।।३।।

Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	3
सूत्र 6-1	6
सूत्र 6-2	10
सूत्र 6-3	12
सूत्र 6-4	14
सूत्र 6-5	15
सूत्र 6-6	22
सूत्र 6-7	24
सूत्र 6-8	25
सूत्र 6-9	29
सूत्र 6-10	32
सूत्र 6-11	37
सूत्र 6-12	42
सूत्र 6-13	45
सूत्र 6-14	46
सूत्र 6-15	48
सूत्र 6-16	49
सूत्र 6-17	50
सूत्र 6-18	51
सूत्र 6-19	51
सूत्र 6-20	52
सूत्र 6-21	54
सूत्र 6-22	55
सूत्र 6-23	57

सूत्र 6-24	57
सूत्र 6-25	62
सूत्र 6-26	64
सूत्र 6-27	66

मोक्षशास्त्र प्रवचन १९

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी

“सहजानन्द” महाराज

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

पहले ५ अध्यायों में जीव और अजीव तत्त्व का वर्णन आया । पंचम अध्याय में पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यका वर्णन किया गया । अब उद्देश्य के अनुसार जैसा कि प्रथम अध्याय के जीवाजीवास्रव आदिक चतुर्थसूत्र में ७ तत्त्वों के नाम लिया उस क्रम के अनुसार अब आस्रव तत्त्व का वर्णन करना प्राप्त होता है । सो आस्रवतत्त्व की प्रसिद्धि के लिए यह सूत्र कहते हैं—

सूत्र 6-1

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ ६-१ ॥

योगका लक्षण और सूत्रप्रयुक्त कर्म शब्द के अर्थ पर विचार—शरीर, वचन और मन का कर्म योग कहलाता है । इस सूत्र में दो पद हैं । प्रथम पद में समास इस प्रकार है कि कायश्च वाक्चमनश्च कायवाङ्मनांसि तेषां कर्मइति कायवाङ्मनः कर्म । यहां कर्म शब्द का अर्थ क्रिया है अर्थात् शरीर की क्रिया, मन की क्रिया, वचन की क्रिया, यद्यपि कर्मशब्द के अर्थ अनेक होते हैं । कहीं तो कर्मकारक में प्रयोग होता है, कहीं पुण्य पाप अर्थ लिया जाता है, कहीं क्रिया अर्थ लिया जाता है, । यहां क्रिया अर्थ है, अन्य अर्थ यहां घटित नहीं होते । कर्म शब्द का एक अर्थ कर्मकारक है, वह यहां इस कारण घटित नहीं होता कि शरीर वचन और मन यहां कर्म नहीं माने जा सकते, क्योंकि कर्म होते हैं तीन प्रकार के (१) निर्वर्त्य (२) विकार्य और (३) प्राप्य । निर्वर्त्य कर्म उसे कहते हैं जो रचा जाये । जैसे लोहे की तलवार बनायी जा रही है तो यहां बनाने वाला लोहार है और वह तलवार को बनाता है तो वह तलवार किस तरह बनती है कि वह लोहा ही पसर फैलकर उस रूप में आ जाता है । तो यह रचना हुई लोहे की । तो कोई कर्म तो रचनारूप होते हैं, कोई कर्म विकार्य होते हैं जैसे सेठानी जी दूध से दही को बना रही हैं तो दही का बनाना क्या? दूध में जामन डालना और उसका विकार बन गया, उस विकार का नाम दही है । तो दही जो निष्पन्न हुआ है वह दूध का विकार रूप है । निर्वर्त्य में और विकार्य में अन्तर क्या आया? निर्वर्त्य में विकार नहीं है लोहा था उसे पसारकर, आकार बदलकर एक रचना ही तो हुई पर विकार नहीं आया दही में विकार आया है । उसकी बदल बन गई है । रूप भी दूसरा, रस भी दूसरा, गंध भी दूसरा, स्पर्श, भी दूसरा हो गया । एक होता है प्राप्यकर्म जैसे देवदत्त स्टेशन को जाता है तो यहां स्टेशन कर्म है तो वह प्राप्य कर्म है, अर्थात् न तो स्टेशन निर्वर्त्य है कि देवदत्त ने किसी चीज से स्टेशन की रचना की और न वह विकार्य कर्म है कि कोई चीज मिलाकर किसी चीज का विकार बन गया हो स्टेशन किन्तु वह प्राप्य कर्म है । देवदत्त दो मील दूर था । अब वहाँ से चलकर उसने स्टेशन को प्राप्त कर लिया तो यों होता है

प्राप्यकर्म । तो यहां देखिये कि ये तीनों ही प्रकार के कर्म कर्ता से भिन्न हैं । पर यहां शरीर, मन, वचन के जो योग हैं वे कर्ता से भिन्न हैं क्या? अगर इन्हें कर्म मानते तो इससे भिन्न कर्ता क्या? तो ये कर्म कारक में नहीं आते । यहाँ एक बात विशेष जानना कि अध्यात्मशास्त्र में कर्ता कर्म आदिक का अभेद बताया जाता । उसकी दृष्टि और है । निश्चयनय की दृष्टि में एक ही पदार्थ में षट्कारक निरखना हुआ करता है । मगर रूढ़ि में, आमरिवाज में जो कर्ता कर्म की रूढ़ि है तो वह भिन्न-भिन्न में हुआ करती है । यहां स्थूल दृष्टि से चिंतन चल रहा है कि शरीर, वचन और मन ये कर्मकारक नहीं है । तो दूसरा कहा गया था कि ये पुण्य, पापरूप होंगे सो पुण्य पापरूप भी कर्म यहां नहीं माना, क्योंकि यदि इनका पुण्य पापरूप से अभिप्राय होता तो आगे सूत्र स्वयं कहा जायेगा—"शुभपुण्यस्याशुभः पापस्य" यदि पुण्य पाप यहां प्रयुक्त कर्म का अर्थ माना जाता तो आगे इस पुण्य पाप का जिक्र क्यों करते, इससे पुण्य पाप वाला कर्म भी इस सूत्र में कहे गए कर्म शब्द का अर्थ नहीं है । तब फिर क्रिया ही अर्थ रहा । शरीर, वचन, और मन की क्रिया योग है अथवा कर्मकारकरूप से भी समझना हो तो कर्ता मानो आत्मा को और उसके कर्म हुए शरीर, वचन, मन, तो इस प्रकार कर्म लगाये जा सकते हैं, पर यहां मुख्यता क्रिया की है । यहाँ यह बात भी समझने योग्य है, योग परमार्थ से शरीर, वचन, मन की क्रिया नहीं है, किन्तु शरीर, वचन, मन की क्रिया करने के लिए उस क्रिया के अभिमुख जो आत्मप्रदेशों का परिस्पंद है वह योग कहलाता है ।

(२) कर्म शब्द की निष्पत्ति व योग की त्रिविधता—कर्म शब्द की निष्पत्ति कैसे हुई है । तीनों साधनों में कर्म शब्द की निष्पत्ति हुई है । जैसे—आत्मा के द्वारा जो परिणाम किया जाता है वह कर्म है । तो 'आत्मना क्रियते तत् कर्म' यह कर्म साधन हो गया । 'आत्मा द्रव्य भावरूपं पुण्यं पापं करोति इति कर्म ।' आत्मद्रव्य भावरूपं कर्म को करता है तो यह कर्तृसाधन हो गया । और जब ऐसी क्रिया पर ही दृष्टि हुई तो वह भाव साधन हो गया । 'करणं कृतिर्वा कर्म' निश्चय से तो आत्मा के द्वारा आत्मा का परिणाम ही किया जाता है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव के कारण व्यवहारदृष्टि से आत्मा के द्वारा योग शब्द भी कर्ता, कर्म, करण साधन में प्रयुक्त होता है । यहाँ एक शंकाकार कहता है कि आत्मा तो अखण्ड द्रव्य है और तीनों प्रकार के योग आत्मा के परिणाम स्वरूप हैं । तो परमार्थदृष्टि से तो तीन भेद योग के न होना चाहिए । फिर यहां ये तीन भेद कैसे किए गए? उत्तर—पर्यायदृष्टि से ये व्यापार भिन्न-भिन्न हैं, इस कारण योग के तीन भेद हो गए । जैसे मानो आम्रफल का परिचय करना है तो आम तो एक पदार्थ है, उसमें भेद क्यों हों? लेकिन चक्षु इन्द्रिय से देखने पर आम में रूप विदित होता है तो घ्राणइन्द्रिय से परिचय करने पर आम में सुगंध परिचय होती है और रसना इन्द्रिय से परिचय करने पर मीठा खट्टा, इस प्रकार परिचय होता है, और स्पर्शन इन्द्रिय से परिचय करने पर कोमल, कठोर ऐसा कुछ अनुभव होता है । तो आम तो एक वस्तु है दृष्टान्त के लिए, किन्तु इन्द्रिय के व्यापार के भेद से उसमें चार भेद जैसे विदित हो गए हैं इसी तरह पर्याय के भेद से योग में भी भेद समझ लेना चाहिए । तो यहाँ आम्रफल में तो चक्षुइन्द्रिय आदिक के निमित्त से रूप रस आदिक पर्यायभेद सिद्ध हुए हैं, क्योंकि ग्रहण भेद से ग्राह्य भेद होता ही है । इस प्रकार आत्मा में पूर्वकृत कर्मोदय के निमित्त से, क्षयोपशम आदिक के निमित्त से शक्तिभेद भी होता है और योगभेद भी होता है।

(३) योगों की निष्पत्ति का सहेतुक विधान—देखिये पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से शरीरादिक मिले हैं तो वहाँ शरीर, वचन, मन की वर्गणा में से किसी वर्गणा के आलम्बन होने पर और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो अंतरंग में वचनलब्धि प्राप्त हुई है तक वचन के परिणमन के अभिमुख आत्मा का जो प्रदेश परिस्पंद है वह वचनयोग कहलाता है । इस प्रकार सीधे स्पष्ट जाने कि योग तो आत्मा का प्रदेश परिस्पंद है । वह योग यदि वचन के अभिमुख है, वचन व्यापार करने के लिए निमित्तभूत हो रहा है तो वह कहलाता है वचनयोग । पर वचनयोग होने के लिए प्रथम तो शरीर चाहिए ना, वह शरीर नामकर्म के उदय से मिल गया, फिर उसकी शक्ति चाहिए, सो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शक्ति मिल गई, फिर इतना ज्ञान चाहिए कि जिससे वह वचन बोल सके, तो मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम मिल गया, ऐसी स्थिति में वचनवर्गणा का आलम्बन होने पर जो आत्मा का प्रदेश परिस्पंद है उसे वचनयोग कहते हैं, इसी तरह मनोयोग भी वह आत्मा का प्रदेश परिस्पंद है जो मन के परिणाम के अभिमुख है इसमें भी क्या-क्या साधन हुआ करते हैं कि पहिले तो शरीर नामकर्म का उदय चाहिए ताकि शरीर मिला सो वह भी मिल गया और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम हुआ और मनोज्ञानावरण का क्षयोपशम हुआ, इस प्रकार जब मन की लब्धि प्राप्त हो जाती है वहाँ फिर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारण मिलने पर विचार के अभिमुख जो आत्मा के प्रदेश परिस्पंद होते हैं वह है, मनोयोग। इसी प्रकार काययोग भी जानना । इतने साधन तो सभी में चाहने पड़ते हैं शरीर नामकर्म का उदय, वीर्यान्तराय का क्षयोपशम और इसके होने पर औदारिक आदिक जो ७ प्रकारकी कायवर्गणायें हैं उनमें से किसी वर्गणा का आलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेश का परिस्पंद है वह काययोग है । योग प्रायः क्षयोपशम के होने पर होता है, किन्तु सयोगकेवली के ज्ञानावरण व वीर्यान्तराय के क्षय पर भी होता है । वह क्षयोपशम निमित्तक रहा तो केवली भगवान में क्षय निमित्तक योग रहा । यह क्षय निमित्तक तो है पर इसका अर्थ यह नहीं कि क्षय हो चुके तो सदैव योग बना ही रहे । जो क्रिया का परिणमन करे ऐसे आत्मा के कायवर्गणा वचनवर्गणा, मनोवर्गणाके आलम्बन से जो प्रदेश परिस्पंद होता है वह सयोगकेवली के योग की रीति है, पर इसका आलम्बन आगे नहीं चलता इसलिए १४ वें गुणस्थान में और सिद्ध भगवान में योग नहीं होते हैं ।

(४) योग की आत्मा से कथंचित् भेदाभेद का संदर्शन व योग का प्रकृतार्थ—यहाँ एक बात यह भी जान लेना कि योग और आत्मा में कथञ्चित् भिन्नपना है, कथञ्चित् अभिन्नपना है । अभिन्नपना है ऐसा समझने में तो कुछ कठिनाई नहीं है, आत्मा है और प्रदेश परिस्पंद हो रहा उसका । तो आत्मा से प्रदेश जुदा नहीं और प्रदेश परिस्पंद जो हो रहा उससे आत्मा जुदा नहीं, लेकिन लक्षण संज्ञा आदिक के कारण उनमें भेद भी माना जा सकता है । जैसे एक पुरुष पुजारी है, किसान है, व्यापारी है । तो है तो वही पुरुष, मगर संज्ञा लक्षण आदिक के भेद से वे भिन्न-भिन्न रूप में परखे जाते हैं । अतएव वे व्यापार इससे भिन्न भी हो गए । तो ऐसे ही आत्मद्रव्य की दृष्टि से तो एकपना ही है, आत्मा, व योग तीन नहीं, हो गया, मगर क्षयोपशम जुदा-जुदा है, शरीर पर्याय जुदा-जुदा है । उसकी दृष्टि से योग तीन प्रकार का हो गया । यहाँ योग शब्द का अर्थ है प्रदेश परिस्पंद । योग

का अर्थ ध्यान न लेना । ध्यान का वर्णन आगे ध्यान के प्रकरण में होगा । वैसे योग शब्द दोनों का पर्यायवाची है । युज् धातु समाधि अर्थ में भी आती है, पर उसका वर्णन आगे किया जायेगा । यहां उसके आस्रव बताये जा रहे हैं तो ध्यान से कहीं आस्रव होता है? प्रदेश परिस्पंद से आस्रव होता है । तो यहां योग का मतलब शरीर, वचन, काय की क्रिया है । योग शब्द का अर्थ जोड़ भी होता है । जैसे बच्चों को सवाल दिया जाता है दो तीन संख्याओं की लाइन रख दी और कहा कि इनका योग करो याने समुदाय अर्थ में भी योग का नाम चलता है, पर यहाँ समुदाय अर्थ नहीं किया जा रहा है । समुदाय अर्थ तो प्रथम पद में ही आ गया कि शरीर, वचन और मन का कर्म तो कर्म शब्द सबके साथ लिया जायेगा । शरीरकर्म, वचनकर्म और मन कर्म । पर यहां योग शब्द का अर्थ प्रदेशपरिस्पंद ही है ।

(५) आस्रवकारणपना व कायादिक्रमरहस्य का संदर्शन—इस सूत्र का तात्पर्य यह हुआ कि नवीन कर्म का आस्रव योग का निमित्त पाकर होता है, आत्मा के प्रदेश में जो परिस्पंद है वह नवीन कर्म के आस्रव का कारण है । कार्माणवर्गणा में कर्मत्व का आ जाना यह आत्मा के प्रदेशपरिस्पंद के कारण होता, यहाँ तक एक साधारण बात रही, पर उस कार्माणवर्गणा में स्थिति और अनुभाग आ जाये तो वह होता है कषायके निमित्त से । यहां केवल आस्रव का प्रकरण है । तो जो आस्रव का सीधा निमित्त है उसका ही वर्णन किया जा रहा है । शरीर, वचन और मन ये तीनों अजीव पदार्थ हैं, पर जीव के साथ सम्बंध होने से वे जीवित कहलाते हैं । तो वहां दो पदार्थ पड़े हैं—जीव और ये काय आदि पुद्गल । तो उपादान की दृष्टि से देखा जाये तो शरीर, वचन, मन की क्रियायें उन पुद्गलों में ही होती हैं और आत्मा के प्रदेशपरिस्पंद रूप क्रियायें आत्मा में होती हैं, किन्तु जो आत्मप्रदेशपरिस्पंद काय, वचन, मन में से जिसकी क्रिया के लिए हो रहा हो उसमें उसका नाम जोड़ा जाता है । तो आरोप होने से योग के तीन नाम हो जाते हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग प्रायः करके योग के जहां नाम आते हैं तो उनका क्रम इस प्रकार रहता है मन, वचन, काय, किन्तु यहाँ काय, वचन, मन इस क्रम से प्रयोग किया गया है तो इसमें यह बात ध्वनित होती है कि काय की क्रियाविशेष विदित होने वाली और और विशेष परिस्पंद वाली है । वचनकी क्रिया काय की क्रिया की अपेक्षा कुछ कम चेष्टा वाली और वचन की अपेक्षा मन की क्रिया परिस्पंद भीतर ही उससे भी सूक्ष्म ढंग से है । तो स्थूल और सूक्ष्म की अपेक्षा इस सूत्र में काय, वचन और मन इस क्रम का प्रयोग किया गया है । एक बात यह जाहिर होती है कि कोई काय चेष्टा बिना विचारे भी हो जाती है, पर उसकी अपेक्षा वचन की क्रिया बिना विचारे नहीं होती, कम होती है । वचन बोलने में काययोग की अपेक्षा विचार अधिक चलता है और मनोयोग में तो वह विचाररूप ही है । तीसरी बात लौकिक दृष्टि से काय से होने वाला अनर्थ सबसे बड़ा अनर्थ है, वचन से होने वाला अनर्थ उससे कम है और मन में ही कोई बात सोच ले तो उससे दूसरे का अनर्थ नहीं होता, वह कम अनर्थ है, पर सिद्धान्त की दृष्टि से काययोग से अधिक अनर्थ वचनयोग में है, वचनयोग से अधिक अनर्थ मनोयोग में है । ऐसे अनेक रहस्यों को संकेत करने वाले इस सूत्र में यह बात कहना प्रारम्भ किया है कि जीव के साथ कर्मों का आते रहना किस प्रकार होता है? उसमें सर्वप्रथम आस्रव होता, उस आस्रव का इस सूत्र में संकेत किया है ।

सूत्र 6-2

स आस्रवः ॥ ६-२ ॥

(६) आस्रव का स्वरूप—इससे पूर्व सूत्र में तीन प्रकार की क्रियाओं को योग कहा गया है। वह योग ही आस्रव है, ऐसा बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है कि वह जो मन, वचन, काय का कर्मरूप योग है सो आस्रव है। यहाँ यह जानना कि वास्तविक आस्रव तो प्रदेशपरिस्पंद मन, वचन, काय इनमें से जिसके अभिमुख हो रहा है, जिसके लिए प्रदेशपरिस्पंद हो रहा है उस उस नाम से उनकी क्रियाओं को उपचार से योग कह देते हैं। प्रदेशपरिस्पंद आस्रव है, इसका भी अर्थ यह जानना चाहिए कि योग नवीन कार्माण, स्कंधों में कर्मत्व होने का निमित्तभूत है यों निमित्त में आस्रवपने का उपचार किया है, अथवा जीव के लिए देखें तो जीवास्रव में यही आस्रव है। जीव का स्वभाव है निष्क्रिय रहना, निस्तरंग प्रदेश परिस्पंद से रहित रहना, सो यह स्वभाव अभिभूत होकर क्रिया परिस्पन्द जीव में हो रहा, इसलिए यह आस्रव जीवास्रव है।

(७) षष्ठ अध्याय के प्रथम और द्वितीय सूत्र को एक सूत्र न बनाने का कारण—यहां एक शंकाकार कहता है कि पूर्व सूत्र को और इस सूत्र का एक मिला दिया जाये तो योग शब्द न कहना पड़ेगा व शब्द भी न कहना पड़ेगा और संधि होने से एक अक्षर और भी कम हो जायेगा। ऐसा करने पर सूत्ररूप होगा—'कायवाङ्मन कर्मास्रवः' और सूत्र का लघु होना विद्वानों के लिए शुद्धि और प्रसन्नता का कारण होता है। इसके समाधान में कहते हैं कि यदि ऐसा सूत्र बनाया जाता और वहाँ योग शब्द न आता तो लोग योग से अपरिचित रहते और फिर सीधा ही यह ही जानते कि काय, वचन, मन की क्रिया ही आस्रव है। निमित्तनैमित्तिक भाव और वास्तविक आस्रवभाव का परिचय नहीं रहता। तो योग शब्द आगम में प्रसिद्ध है और उसका अर्थ यहाँ न कहा हुआ हो जाता, जिससे अर्थ में भी बाधा आती और योग शब्द का कथन न रहने का दोष भी रहता। अब शंकाकार कहता है कि योग शब्द भी रख लिया जाये फिर भी दोनों सूत्रों को मिला देने से सः शब्द न रखना पड़ेगा तो भी लघु हो जायेगा। उस समय सूत्र का रूपक होगा 'कायवाङ्मन कर्मयोगः आस्रवः'। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि दोनों को एक मिला देने से समस्त योगों में आस्रवपना आ जायेगा। यद्यपि मिला देना भी शाब्दिक दृष्टि से ठीक बैठना है फिर भी न मिलाया तो यह पृथक्करण इस बात को सूचित तो करता है कि योग आस्रव के हेतु है, परन्तु सर्व योगमें समान आस्रवपना नहीं है और स्थिति की दृष्टि से १३वें गुणस्थान में सयोगकेवली के केवली समुद्धात में बड़ा योग होने पर भी आस्रव नहीं होता। वीतराग आत्माओं के साम्परायिक आस्रव नहीं कहा गया और साम्परायिक आस्रव ही वास्तव में आस्रव है। ईर्ष्यापथास्रव तो निष्फल है, उसका तो एक समय भी ठहरना नहीं होता। यद्यपि सयोगकेवली में सूक्ष्मकाययोग है और उसके निमित्त से जो आस्रव है वह अत्यन्त अल्प है, स्थिति ऐसी है मगर दोनों सूत्रों को एक मिला देनेसे उनका भी आस्रवपना सिद्ध हो जाता।

(८) सानुभाग व निरनुभाग आस्रव के हेतुभूत योग को जानने के लिये सूत्रपार्थक्य—और भी देखिये—वर्गणावों का आलम्बन के निमित्त से योग होता है और उसे आस्रव कहा है, मगर जिस समय दण्ड आदिक समुद्धात

होते हैं वे वर्गणावों के आलम्बन के निमित्त से नहीं होते । इस कारण सयोगकेवली के आस्रवपना नहीं माना गया । अब शंकाकार कहता है कि सयोगकेवली गुणस्थान में दंडादिक समुद्धात होने पर अन्य आस्रव नहीं माने गए तो सर्वथा निर्बंध हो जायेंगे, निरास्रव हो जायेंगे, पर करणानुयोग में सयोगकेवली गुणस्थान तक अथवा ११वें, १२वें, १३वें तीनों वीतराग आत्मावों के ईर्यापथास्रव कहे गए हैं, अथवा प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध नाम का बंध माना गया है तब तो यह आगम के विरुद्ध हो जायेगा । इसके समाधान में कहते हैं कि वहां जो भी आस्रव हो रहा, बंध हो रहा, स्थिति अनुभाग से रहित जो कार्माणवर्गणायें आ रहीं उसमें दंडादि योग निमित्त बंध नहीं है । तो क्या है? कार्माणवर्गणा के निमित्त से आत्मप्रदेश का परिस्पंद है और तन्निमित्तक वहां बंध है सो भी स्थिति अनुभागरहित है । शंकाकार कहता है कि जैसे केवली भगवान के इन्द्रिय होने पर भी इन्द्रिय का व्यापार न होने से इन्द्रियजन्य बंध नहीं हो रहा है उसी प्रकार दंडादिक समुद्धात होने पर भी तन्निमित्तक बंध न होने से इसका आस्रवपना न हो सकेगा । तो पूर्वोक्त आपत्ति न आने से दोनों सूत्रों को एक बना देने पर भी तो कुछ हर्ज नहीं है । इसके उत्तर में कहते हैं कि भिन्न-भिन्न सूत्र बनाने में यह अर्थ निकलता है कि शरीर वचन और मन की वर्गणावों के आलम्बन से जो प्रदेश परिस्पंद है वही योग है और वही आस्रव कहलाता है अर्थात् कोई ऐसा भी योग है कि जिस योग से आस्रव नहीं होता, यह बात सब ही तो शुद्ध बनेगी जब दो सूत्र भिन्न कहे जायेंगे । यह आस्रव में मुख्य साम्प्रायिक आस्रव लेना ।

(९) आस्रव शब्द का शब्दार्थ, निरुक्त्यर्थ व प्रकृतार्थ—अच्छा अब देखो आस्रव नाम क्यों रखा गया है कर्म में कर्मत्व आने को ? आस्रव कहते हैं किसी द्वार से चूकर निकलने को । जैसे किसी पर्वत में किसी स्थल पर चूकर पानी निकलता है तो ऐसे ही योग की नाली के द्वारा आत्मा के कर्म आते हैं, इस कारण वह योग आस्रव नाम से कहा जाता है जैसे कोई गीला कपड़ा वायु के द्वारा लायी गई धूल को अपने प्रदेशों में ग्रहण कर लेता है अर्थात् चारों ओर से चिपटा लेता है, ऐसे ही कषायरूपी जल से गीला यह आत्मा योगरूप वायु के द्वारा लायी गई कर्मधूल को अपने सर्व प्रदेशों से ग्रहण कर लेता है अथवा जैसे कोई गर्म लोहे का गोला पानी में डाल दिया जाये तो वह गोला चूंकि बहुत तेज लाल गर्म है सो वह चारों तरफ से पानी को खींच लेता है, ऐसे ही कषाय की महती अग्नि से संतप्त हुआ यह जीव योग से लाये गए कर्मों को सर्व प्रदेशों से ग्रहण कर लेता है और इस प्रकारके आस्रव होने में आत्मप्रदेश परिस्पंद साक्षात् निमित्त है और वह हुआ मन, वचन, काय के अभिमुख होकर, इस कारण यहां तीन योगों को आस्रव कहा गया है । अब यहां भी जिज्ञासा होती है कि कर्म दो प्रकार के माने गए हैं—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म । तो क्या वहां अविशेषता से वह योग आस्रवण का कारण है या कुछ उन दोनों में भेद है? अर्थात् पुण्यकर्म का आस्रव हो, पापकर्म का आस्रव हो, दोनों एक समान विधि से हैं अथवा इनमें कुछ अन्तर है इसके उत्तर में सूत्र कहते हैं—

सूत्र 6-3

शुभः पुण्यस्या शुभः पापस्य ॥ ६-३ ॥

(१०) शुभयोग और अशुभयोग का स्वरूप, विश्लेषण एवं कार्य—शुभयोग पुण्य का आस्रव करता है और अल्पयोग पाप का आस्रव करता है। शुभयोग क्या होता है ? उत्तर—शुभपरिणामपूर्वक होने वाला योग शुभयोग कहलाता है। शुभयोग भी तीन प्रकारके हैं—(१) शुभकाययोग, (२) शुभ वचनयोग, (३) शुभ मनोयोग। और अशुभयोग भी तीनों ही प्रकार के हैं—(१) अशुभ काययोग, (२) अशुभ वचनयोग और (३) अशुभमनोयोग। शरीर से खोटी चेष्टायें होने को अशुभकाययोग कहते हैं। जैसे कोई जीवहिंसा की प्रवृत्ति करता है, चोरी, मैथुन आदिक प्रवृत्तियां करता है तो यह अशुभ काययोग है। कोई पुरुष झूठ बोलता है, कठोर वचन कहता है तो वह अशुभ वचनयोग है। कोई पुरुष विचार गंदे रखता है, किसी को मारने का विचार, किसी से ईर्ष्या करने का विचार, किसी से मात्सर्य रखने का विचार, तो वह अशुभ मनोयोग कहलाता है, ऐसे ही अशुभयोग अनन्त प्रकार के होते हैं—अब शुभयोग सुनो—जीवदया, हिंसा से निवृत्ति का परिणाम, अचौर्यभाव, ब्रह्मचर्यभाव ये सब शुभकाय

योग हैं। सच हितकारी परिमित बोलना शुभवचनयोग है। वीतराग प्रभुकी भक्ति, तपश्चरण की प्रीति, श्रुतशास्त्र का विनय आदिक विचार शुभमनोयोग कहलाते हैं। ये सब अव्ययसाय कहलाते हैं। अध्यवसाय के स्थान यद्यपि असंख्यात लोक प्रमाण है फिर भी अनन्तानन्त पुद्गलसे बंधे हुए जो कर्म हैं ज्ञानावरणादिक उनके क्षयोपशम के भेद से वे तीनों योग अनन्त प्रकार के हो जाते हैं, क्योंकि जितना उनमें क्षयोपशम उदय आदिक पड़े हैं उतने ही अननानन्त प्रदेश वाले कर्मों का ग्रहण होता है और फिर जीव अनन्तानन्त हैं, उस दृष्टि से तीनों योग अनन्त प्रकार के हो जाते हैं।

(११) शुभयोग से विषय स्वरूप के विषय में चर्चा—यहां एक बात विशेष जानना कि जो शुभ अशुभ योग में शुभ अशुभपना है वह इस कारण से नहीं है कि जो शुभकर्म का कारणभूत योग हो वह अशुभयोग कहलाये, क्योंकि शुभयोग होने पर भी ज्ञानावरणादिक अशुभ कर्मों का बंध चलता रहता है। फिर शुभ अशुभपना किस प्रकार है? जिसमें सातावेदनीय आदिक पुण्य प्रकृतियों का विशेद आस्रव हो उसका निमित्तभूत योग शुभ है, पाप प्रकृतियों के आस्रव का निमित्तभूत योग अशुभ है। अथवा यहाँ यह अवधारण करना कि शुभ योग ही पुण्य का आस्रव करता है, इससे यह सिद्ध होगा कि कुछ शुभयोग होने पर भी पाप का आस्रव होता रहता है।

(१२) पाप और पुण्य के विषय में स्वरूप निरुक्ति, विश्लेषण आदिकी चर्चा—पुण्य शब्द की निरुक्ति है 'पुनाति आत्मानं अथवा पूयते अनेन' इति पुण्यं जब कर्तुसाधन की विवक्षा हो तो उस स्वतंत्रता को विवक्षा में तो यह निरुक्ति है कि जो आत्मा की प्रीति उत्पन्न कराये, हर्ष उत्पन्न कराये वह पुण्य है और जब करणसाधन की

विवक्षा हो, जिसकी रीति परतंत्रता की विधि का प्रयोग है तो वहां अर्थ होता है कि हर्षरूप होता है जिसके द्वारा वह पुण्य कहलाता है। वे पुण्य प्रकृतियां क्या हैं सो स्वयं इस ग्रन्थ में आगे कहा जायेगा कि साता वेदनीय आदिक पुण्य प्रकृतियां हैं। पाप पुण्य का प्रतिपक्षी है और पाप शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है 'यातिरक्षति आत्मानं शुभपरिणामात् इति पापं,' धातु के अर्थ की दृष्टि से अर्थ होता है कि जो आत्मा को शुभ परिणाम से बचाये उसे पाप कहते हैं अर्थात् शुभ परिणाम न होने दे, खोटे परिणाम रहें वह पाप है। पाप कर्म असातावेदनीय आदिक हैं सो आगे के अध्यायों में कहेंगे। यहाँ शङ्काकार कहता है कि जैसे बेड़ी चाहे सोने की हो अथवा लोहे की हो, उस बेड़ी के प्रयोग से परतंत्रता होना यह इससे समान ही पाया जाता है तो फल तो बराबर ही रहा। पुण्य भी परतंत्रता का कारण रहा, पाप भी परतंत्रता का कारण रहा, क्योंकि पुण्यफल में भी संसार में ही रहना पड़ता, पाप के फल में भी संसार में रहना पड़ता, तो समान ही निमित्त बना रहा केवल कल्पना का भेद करना अच्छा नहीं। वास्तविकता पर ध्यान दें तो दोनों का निमित्तभूत जो योग है वह एक समान है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि हां एक दृष्टि से ऐसा ठीक है मगर इष्ट और अनिष्ट का निमित्त होने से उन दोनों में भेद है। पुण्यकर्म तो इष्टगति जाति शरीर इन्द्रियविषय आदिक का निर्माण करने वाला है और पापकर्म अनिष्ट गति जाति शरीर आदिक सभी अनिष्ट विषयों का रचने वाला है। यह उनमें भेद है, सो जो शुभ योग है वह तो पुण्य का आस्रव करता है और जो अशुभ योग है वह पाप का आस्रव करता है।

(१३) शुभ अशुभ योग व पुण्य पाप के सामर्थ्यों का संदर्शन—यहां शंकाकार कहता है कि जब शुभ परिणाम होते सन्ते घातिया कर्मोंका बंध होता ही रहता है, तो यह विभाग करना गलत रहा कि शुभ परिणाम पुण्य के आस्रव का कारण है, लो शुभ परिणाम तो पाप का भी आस्रव कराता है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह पुण्य पाप की जो चर्चा है वह अघातिया कर्म की दृष्टि से समझना। अघातिया कर्मों में जो पुण्य है उनमें आस्रव का कारण अशुभयोग है अथवा शुभयोग पुण्य का ही कारण है, यह निश्चय नहीं कर रहे, किन्तु यह निश्चय करना कि शुभयोग ही पुण्य का कारण है, इससे यह भी बात आ गयी कि शुभयोग होते हुए भी घातिया कर्मों का, पाप कर्मों का आस्रव हो सकता है। शंकाकार पुनः कहता है कि यदि शुभ पाप का और अशुभ पुण्य का भी कारण होता है तो जो आगममें बताया है कि सब कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश से बताया गया है और जघन्य स्थिति बंध मंद संक्लेश से बताया गया है। तो ये दोनों ही बातें जो आगम में कही है वे निरर्थक हो जायेंगी। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इन दोनों सूत्रों का अर्थ यों देखें कि तीव्र संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबंध और मंद संक्लेश से जघन्य स्थितिबंध जो बताया है सो अनुभाग बंध की अपेक्षा जानना, क्योंकि फल में मुख्य निमित्त अनुभाग बंध होता है। कितने ही कर्मपरमाणु बंध जायें और कितनी ही स्थिति बंध जायें, यदि उनमें अनुभाग विशेष नहीं है तो वह फल विशेष नहीं दे सकता। तो चारों प्रकारके बंधोंमें अनुभाग बंध बड़ा प्रबल बंध है। सो यह अर्थ लेना कि समस्त शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम से होता है और समस्त अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध तीव्र संक्लेश परिणाम से होता

है और स्पष्ट बात फिर यह है कि जैसे लोक में कोई पुरुष बहुत तो उपकार करता है और कदाचित् थोड़ा अपकार भी कर दे तो लोग उसको उपकारक ही मानते हैं, ऐसे ही शुभयोग होने पर कुछ पापकर्म का बंध भी हो जाये तो चूंकि अधिक पुण्य का ही बंध है इस कारण उसे पुण्यबंध का ही कारण कहा जाता है। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि क्या ये आस्रव समस्त संसारी जीवों के समान फल देने के हेतुभूत हैं या कुछ विशेषता है? इसके समाधान में सूत्र कहते हैं—

सूत्र 6-4

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ६-४ ॥

(१४) आस्रव की द्विविधता का व आस्रव के स्वामी का वर्णन—कषायसहित जीवों के साम्परायिक आस्रव होते हैं और कषायरहित जीवके ईर्यापथास्रव होता है। चूंकि आस्रव के दो प्रकार के स्वामी हैं। इस अपेक्षा से आश्रय के दो भेद कहे गए हैं। यद्यपि आस्रव के स्वामी अनन्त हैं। जितने जीव हैं उन सबमें परस्पर भेद भी हैं, तिस पर भी उन सब जीवों को एक दृष्टि से संक्षिप्त किया जाये तो दो प्रकारों में आते हैं। कोई कषायसहित है, कोई कषायरहित है, कषाय किसे कहते हैं? जो आत्मा को कसे उसे कषाय कहते हैं। 'कषति आत्मानं इति कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार परिणाम आत्मा का घात करते हैं, कसते हैं, इसे दुःखी कर डालते हैं। बेचैन हो जाते हैं आत्मा कषायों से ग्रस्त होकर। और फिर अगले भव में कुगति भी मिलती है सो आगे भी उसका फल भोगना पड़ता है। तो आत्मा को ये कषायें चोंटती हैं, घात करती हैं इस कारण इन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कषायें दूध, गोंद आदिक की तरह कर्मों को चिपकाती हैं इसलिए वे कषाय कहलाती। जैसे बड़ आदिक के पेड़ से जो गाढ़ा दूध अथवा गोंद जैसा निकलता है वह दूसरे पदार्थों को चिपकाने में कारण है, ऐसे ही क्रोधादिक भाव भी आत्मा को कर्म से चिपकाने में कारण बन जाते हैं या आत्मा से कर्म को चिपकाने में कारण बनते हैं, इस कारण कषाय की तरह होने को कषाय कहते हैं। जो इन कषायों से युक्त भाव हैं वे सकषाय कहलाते हैं। और जो कषायों से रहित है, जहां कषायें नहीं पायी जातीं वह अकषाय कहलाता है। तो कषायसहित जीवके साम्परायिक आस्रव है, कषायरहित जीव के ईर्यापथास्रव है।

(१५) साम्परायिक न ईर्यापथ आस्रव का निरुक्त्यर्थ भावार्थ स्वामित्व आदि विषयक चर्चा—साम्पराय शब्दमें मूल शब्द है सम्पराय और उसकी व्युत्पत्ति है कि चारों ओर से कर्मोंके द्वारा आत्मा को पराभव होना सो साम्पराय है। 'कर्मभिः समन्तात् आत्मनः पराभवः इति साम्परायः,' और यह साम्पराय जिसका प्रयोजन हो, जिसका कार्य हो इस साम्पराय के प्रयोजन वाला काम साम्परायिक कहलाता है। इन दोनों आस्रवों में साम्परायिक आस्रव कठिन है, कठोर है, संसार का बढ़ाने वाला है, संसार फल देने वाला है, सुख दुःख का कारण

है, किन्तु ईर्यापथास्रव केवल आता है और तुरन्त निकल जाता है, आत्मा में ठहरता नहीं है। ईर्यापथ शब्द में दो शब्द हैं—(१) ईर्या और (२) पथ। ईर्या नाम है योग की गतिका, ईरणं ईर्या अर्थात् आत्मप्रदेशपरिस्पंद होना

इसे कहते हैं ईर्या, और ईर्या के द्वारसे जो कार्य होता है उसे कहते हैं ईर्यापथ । 'ईर्याद्वारं यस्य तत् ईर्यापथ' इस सूत्र में दो पद हैं और दोनों में द्वन्द्व समास है और इसी कारण दोनों ही पद द्विवचन में हैं, जिनका विभक्ति अनुसार अर्थ है कि कषायसहित जीवके साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है । कषायरहित जीव के ईर्यापथकर्म का आस्रव होता है । मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक इन १० गुणस्थानों में कषाय का उदय रहता है । सो कषाय के उदय से सहित जो परिणाम है ऐसे परिणाम वाले जीव के योग के वश से कर्म आते हैं और वे गीले चमड़े में धूल लगने की तरह स्थिर हो जाते हैं वे साम्परायिक कर्म कहलाते हैं, और ११वें गुणस्थानसे लेकर १३वें गुणस्थान तक उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली ये तीनों कषायरहित हैं, वीतराग हैं, किन्तु योग का सद्भाव है तो इसके योग के वश से जो कर्म आते हैं सो आयें तो सही, पर कषाय न होने से बंध नहीं होता । जैसे सूखी भीत पर कोई लोंधा गिर जाये तो वह तुरन्त ही अलग हो जाता है, चिपटता नहीं है, इसी प्रकार कषाय न होने से यह आत्मा सूखे की तरह है । वहां जो कर्म आते हैं वे डले की तरह तुरन्त दूर हो जाते हैं, इसका नाम है ईर्यापथ।

(१६) सकषाय अकषाय शब्दों के सूत्रोक्त अनुक्रम की मीमांसा—एक शंकाकार कहता है कि इस सूत्र में पहले पद में दो स्वामियों का वर्णन किया है—१—कषायसहित का और २—कषायरहित का । तो इन दो स्वामियों के बीच प्रशंसनीय तो कषायरहित है, इस कारण कषायरहित शब्द पहले कहना चाहिए था फिर सकषाय शब्द बोलते । इस नीति का उल्लंघन क्यों किया गया? इसके उत्तर में कहते हैं कि बात तो यह सही है । अकषाय आत्मा पवित्र है, पूज्य है और सकषाय आत्मा उससे निकृष्ट है, किन्तु पहिले कुछ वर्णन सकषाय जीव के बारे में होना है । अकषाय जीव के बारे में क्या विशेष वर्णन होगा? वहां कर्म स्थिति को ही प्राप्त नहीं होते । तो बहुत वक्तव्यता होने से सकषाय शब्द को पहले रखा गया है और इस कारण साम्परायिक होता है सो दूसरे पद में प्रथम साम्परायिक शब्द रखना पड़ा है । यहां यह बात शिक्षा में आती है कि जीव यदि अपने स्वरूप की संभाल करे, पूर्वकृत कर्म का उदय होने पर कषाय की छाया आये भी तो भी ज्ञानदृष्टि के बल से वहां बंध अति अल्प होता है और जब कषाय का संस्कार ही न रहे, निमित्तभूत मोहनीय कर्म भी न रहे, उसका विपाक न आये तो छाया भी न पड़ेगी तो वहाँ फिर योगवश जो कर्म आयेंगे वे ईर्यापथ हैं । इस जीव का संसार में भ्रमण कराने वाला कषायभाव ही है । अब जिज्ञासा होती है कि जब साम्परायिक आस्रव पहला वक्तव्य है, इसके विषय में बहुत अधिक वर्णन किया जाना है तो उसके पहले भेद बतलावो कि साम्परायिक आस्रव के कितने भेद हैं । इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए सूत्र कहते हैं ।

सूत्र 6-5

[इन्द्रियकषायां व्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः । ६-५ ।

(१७) साम्परायिक आस्रव के भेद—इन्द्रियाँ ५, कषाय ४, अत्रत ५ और क्रिया २५, ये सब मिलाकर ३९

साम्परायिक आस्रव के भेद हैं। इन्द्रिय का लक्षण पहले कहा गया था वे दो प्रकार की हैं (१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। इनके विषय ५ होते हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। इन ५ विषयों में इन्द्रिय की वृत्ति होने से कर्मास्रव होता है और वह साम्परायिक आस्रव होता है। कषायें चार होती हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध गुस्सा को कहते हैं, मान गर्व करने को कहते हैं, माया छल कपट को कहते हैं और लोभ तृष्णा करने को कहते हैं। ये चारों कषायें साम्परायिक आस्रव के मुख्य कारण हैं। ५ अव्रत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, किसी प्राणी का ख्याल करके उसके मारने, वध करने, पीटने, नुक्सान पहुंचाने आदिक का विचार रखते हुए जो खुद को दुःखी और पर को दुःखी करता है वह हिंसा कहलाती है। असत्य सम्भाषण करना, दूसरों को अहितकर वचन बोलना यह झूठ है। बिना दूसरे के दिए हुए, स्वामी के भीतरी अभिप्राय के बिना चीज लेने को चोरी कहते हैं। परस्त्री या परपुरुष के प्रति कामवासना का भाव रखना कुशील कहलाता है। बाह्यपदार्थों में तृष्णा करना परिग्रह है। क्रियायें २५ होती हैं जो कि साम्परायिक आस्रव के कारण हैं। इन क्रियाओं में कोई क्रिया शुभ है कोई क्रिया अशुभ है, सभी क्रियायें कर्म के आस्रव का कारण हैं।

(१८) सम्यक्त्वक्रियादि साम्परायिक आस्रवसम्बन्धित दश क्रियाओं का निर्देश—[१] सम्यक्त्वक्रिया—चैत्यगुरु शास्त्र की पूजा आदिक करनेरूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया कहलाती है। यद्यपि सुनने में यह भली लग रही है और शुभ भी है, परन्तु आस्रव के प्रकरण में जिन घटनाओं में परिणामों में राग का अंश भी हो, चाहे वह शुभ है तो भी वहाँ आस्रव बताया गया है, इस क्रिया में शुभ आस्रव होता है। [२] मिथ्यात्वक्रिया—रागी द्वेषी देवताओं का स्तवन करना, कुगुरु आदिक की भक्ति करना, जो मिथ्यात्वहेतुक है वे सब प्रवृत्तियां मिथ्यात्वक्रिया कहलाती है। [३] प्रयोगक्रिया—शरीरादिक के द्वारा जाना आना आदिक प्रवृत्ति करना प्रयोगक्रिया है। इस क्रिया में वीर्यान्तराय का, ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदय से प्राप्त मन, वचन, काय की चेष्टायें चलती हैं अथवा इन योगों के रचने में समर्थ पुद्गल का ग्रहण करना भी प्रयोगक्रिया है। [४] समादानक्रिया—संयम धारण करने पर भी कुछ अविरत भाव की ओर झुकना सो समादानक्रिया है। [५] ईर्यापथक्रिया—ईर्यापथास्रव के कारणभूत जो भी परिस्पदात्मक क्रिया है वह ईर्यापथ के कर्म में निमित्तभूत है। परिस्पंदरूप चेष्टा को ईर्यापथक्रिया कहते हैं। [६] प्रादोष की क्रिया—क्रोध के आवेश में जो भी चेष्टायें होती हैं वे प्रादोष की क्रिया कहलाती हैं। इससे कर्मों का आस्रव होता है। यहां एक अन्तर समझना कि क्रोध प्रदोष में कारण होता है अतः क्रिया कारण के भेद से क्रोधकषाय और प्रादोष की क्रिया में भेद है। क्रोध तो बिना बाह्य निमित्त के भी होता है अथवा क्रोध प्रदोष के निमित्त से नहीं है, किन्तु प्रादोष क्रोधरूप निमित्त से होता है। जैसे माया चुगली के स्वभाव वाला कोई व्यक्ति इष्ट स्त्रीहरण, धन का विनाश आदिक निमित्तों के बिना भी क्रोध करता है, जिसको ईर्या लगी है ऐसा पुरुष प्रकृत्या क्रोध करता है तो क्रोध निमित्त है और प्रादोष उसका कार्य है। [७] काय की क्रिया—प्रादोष के बाद जो चेष्टायें होती हैं उस प्रादोषयुक्त पुरुष का उद्यम काय की क्रिया कहलाती है। [८] आधिकरण की क्रिया—हिंसाके उपकरणों को ग्रहण करने से

जो विकार जगता है वह आधिकरण की क्रिया कहलाती है । [९] पारितायिकी क्रिया—दूसरों को दुःख उत्पन्न करने वाली चेष्टा पारितायिकी क्रिया कहलाती है । [१०] प्राणातिपाति की क्रिया—आयु इन्द्रिय बल आदिक का वियोग करने वाली चेष्टायें प्राणातिपाति की क्रिया कहलाती हैं याने ऐसी क्रिया जिससे प्राणघात हो, ऐसी क्रिया से अशुभ आस्रव होता है ।

(१९) दर्शनक्रियादिक साम्परायिकास्रव संबंधित पांच क्रियाओं का निर्देश—[११] दर्शनक्रिया—राग से कषायसहित होकर किसी सुन्दर रूपके देखने का अभिप्राय करना दर्शनक्रिया है । जो रूप इष्ट लगता हो उस रूप को देखने का भाव होना वह दर्शनक्रिया है । देख सके या न देख सके, देखनेका भाव ही क्रिया तो वही आत्मा के लिए क्रिया हो गई, क्योंकि कर्मों का आस्रव जड़ की क्रिया से नहीं होता, किन्तु आत्मभाव में विकार आने से कर्म का आस्रव होता है । [१२] स्पर्शनक्रिया—प्रमाद के वश होकर जिस चीज को छूना चाहिए, जो इष्ट लग रहा हो उसको छूने का अनुभव करना, छूने का अभिप्राय करना वह सब स्पर्शन क्रिया है । ये सब साम्पराय आस्रव के कारण बताये जा रहे हैं जिससे संसार में रुलना होता है । यहां एक शंका होती है कि जब इन्द्रिय को भी आस्रवका कारण कहा है तो देखना, छूना यह तो इन्द्रिय में ही गर्भित हो जाता और यह क्रिया अलग से क्यों कही जा रही? तो उत्तर इसका यह है कि पहले जो ५ इन्द्रियों को साम्परायिक आस्रव का कारण कहा है वहां तो इन्द्रियविज्ञान अर्थ लेना है और इस क्रिया के प्रकरण में इन्द्रिय से ज्ञान करने के पूर्वक आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंद हुआ, कुछ चेष्टा हुई यह भाव लेना है । [१३] प्रात्यायिकी क्रिया—कोई नया अधिकरण बना, नई चीज बनी, नया साधन बना विषय का या कषाय का उस साधन के बनने को प्रत्यायिकी क्रिया कहते हैं । [१४] समन्तानुपात क्रिया—स्त्री, पुरुष, पशु आदि जिस जगह बैठा करते हों, रहा करते हों उस जगह मलमूत्र का क्षेपण करना समंतानुपात क्रिया है । इन सब क्रियाओं से साम्परायिक आस्रव होता है । [१५] अनामुक क्रिया—बिना शोधे हुए, बिना देखे हुए जमीन पर बैठ जाना सो जाना अपने शरीरके अंगों का निक्षेपण करना

यह अनामुक क्रिया है । इन सब क्रियाओं में प्रमाद कितना बसा हुआ है इस कारण इन क्रियाओं से साम्परायिक आस्रव होता है । (१६) स्वहस्तक्रिया—जो क्रिया दूसरे के द्वारा की जानी चाहिए उस क्रिया को स्वयं करना यह स्वहस्तक्रिया कहलाता है । जैसे बाल नाई बनाया करते हैं और कोई खुद ही रेजर उस्तरा आदि से बाल बना ले तो यह स्वहस्तक्रिया है । ये आस्रव के ही कारण बताये जा रहे । इसमें कोई यह सोचे कि ऐसी स्वहस्त क्रिया नहीं होनी चाहिये, सो ऐसी ऐसी अनेक क्रियायें चल रही हैं, जिनसे आस्रव होता है तो यह भी आस्रव है अथवा दूसरे में काम कराये वहां भी आस्रव है वह भी आस्रव में गिना है । तो कर्मों का आस्रव जिनसे होता है वे सब क्रियायें बतायी जा रही हैं । अपने हाथ से करे वहाँ भी आस्रव दूसरे से कराये वहाँ भी आस्रव । आस्रव के भेद बताना यह प्रयोजन है । (१७) निसर्ग क्रिया—पाप ग्रहण करना आदिक की प्रवृत्ति विशेष का ज्ञान करना या सुगमतया होना यह निसर्गक्रिया कहलाती है । (१८) विदारण क्रिया—आलस्य से शुभ क्रिया को न करना और दूसरे के द्वारा किए गए पापादिक कार्यों का परिग्रहण करना विदारण क्रियायें कहलाती

हैं । [१९] आज्ञाव्यापारिकी क्रिया—जैसी शासन में आज्ञा है आवश्यक कार्य करना चाहिए, उन क्रियाओं को कर्मोदयवश नहीं कर सकते हैं तो उसका अन्य प्रकार से अर्थ लेना, विरूपण करना आज्ञाव्यापारिकी क्रिया है । कोई व्रत नियम ले रखा है और वह विशिष्ट चरणानुयोग के अनुसार पालन नहीं कर सकता है तो उसका अन्य प्रकार से निरूपण करना वह आज्ञाव्यापारिकी क्रिया है । [२०] अनाकांक्षक्रिया—मूर्खता से या आलस्य में आगम में बताई हुई विधि के अनुसार कर्तव्य न कर सके, उन कर्तव्यों में अनादर भाव रखे तो वह अनाकांक्षक्रिया कहलाती है ।

(२०) आरम्भक्रियादिक साम्परायिकास्रवसंबंधित पांच क्रियाओं का निर्देश—[२१] आरम्भक्रिया—छेदना भेदना आदिक क्रियाओं में तत्परता होना या दूसरे लोग कोई छेदन भेदन आदिक आरम्भ कर रहे हों तो उसमें हर्ष परिणाम होना आरम्भ क्रिया कहलाती है । [२२] पारिग्राह्य की क्रिया—परिग्रह नष्ट न हो, सुरक्षित रहे, कहां धरना, कहां जमा करना, उसके अविनाश के लिए जो संकल्प विकल्प हैं या चेष्टायें हैं । वे सब पारिग्राह्य की क्रियायें कहलाती हैं । [२३] मायाक्रिया—ज्ञान दर्शन आदिक के विषय में प्रवचन करना, छल कपट करना मायाक्रिया है । जैसे कोई जानता है और कोई पूछे तो न बताना चाहे तत्त्वोपदेश की या चर्चा की बात किसी प्रयोजन से हो तो भी उसे टाल देना, अन्य उत्तर देना यह मायाक्रिया हुई । या जैसे कोई जानता नहीं है और कोई पूछ रहा है तो उस सम्बन्ध में मूर्खता जाहिर न हो तो कपट करके अन्य प्रकार उत्तर देना या समय टालना सब मायाक्रिया है । [२४] मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादर्शन के कार्यों के करने में या कराने में जो लगे हों उनकी उनको प्रशंसा आदिक करके ऐसे ही कुकार्यों में दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शनक्रिया कहलाता है । इस क्रिया में इस तरह की स्तुति सी होती है कि आप बहुत अच्छा कर रहे हैं, कितना ऊँचा आपका तपश्चरण है आदिक बातें कह कर मिथ्यादर्शन वाली क्रियाओं में उन्हें दृढ़ कर देने को मिथ्यादर्शन क्रिया कहते हैं । [२५] अप्रत्याख्यानक्रिया—संयम को घातने वाले कर्मों के उदयसे विरक्त निवृत्ति त्याग का परिणाम न होना, त्याग न कर सकना अप्रत्याख्यान क्रिया कहलाती है ।

(२१) संख्याओं का इन्द्रियादि का साथ अनुक्रम योजन व इन्द्रियादि का आत्मा से भेद अभेद की मीमांसा— इस सूत्र में जो संख्या के नाम दिये गये हैं वे नाम पूर्वपद में दिए गए नामों में क्रम से लगते हैं । जैसे ५ इंद्रिय ४ कषाय, ५ अव्रत और २५ क्रियायें, ये सब किसके भेद हैं? यह बताने के लिए सूत्र में पूर्वस्य शब्द आया है । इससे पहले सूत्र में दो प्रकार के आस्रव बताये गए थे । साम्परायिक और ईर्यापथ उनमें से पूर्व के ये भेद हैं अर्थात् साम्परायिक आस्रव के ये भेद हैं । भेद तो असंख्यात प्रकारके हो सकते, पर उन सब असंख्यात प्रकार के आस्रवों का संक्षेप किया जाये तो वे मूल में चार भेद रूप और उनके सूत्रोक्त उत्तर भेदों को गिनने से ३९ भेद होते हैं । यहां एक शङ्काकार कहता है कि इन्द्रिय कषाय अव्रत क्रियायें जो भी यहां बतायी जा रही हैं वे क्या आत्मा से भिन्न हैं या अभिन्न है? यदि ये भिन्न हैं तो आत्मा के आस्रव कैसे कहलाये जा सकते हैं? यदि ये अभिन्न हैं तो वे सब आत्मा ही रहे, फिर आस्रव क्या कहलाये? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इन्द्रिय आदिक आत्मा से कथञ्चित भिन्न हैं और कथञ्चित अभिन्न हैं । यह बात अनेकान्त विधि से समझना

चाहिए। अब अनादि पारिणामिक चैतन्यरूप द्रव्यार्थिक की दृष्टि करते हैं अथवा केवल एक रूप में निरखते हैं तो इन्द्रिय आदिक का भेद वहां नहीं जचता इसलिए उस दृष्टि में अमिन्न है, और जब कर्म के उदय क्षयोपशम के निमित्त से होने वाली पर्यायकी दृष्टिसे निरखते हैं तो उनमें परस्पर भेद है और आत्मस्वरूप से भी भेद है। इस कारण वे भिन्न हैं। दूसरी बात यह भी है कि इन्द्रिय आदिक के वियोग हो जाने पर भी द्रव्य का अवस्थान रहता है इस कारण आत्मा में और इस इन्द्रिय आदिक में भिन्नता है। और इस भिन्नता के आधार पर ही पर्याय की दृष्टि से ५ आदिक जो संख्यायें बतायी है, उनका निर्देश ठीक बैठता है।

(२१) क्रिया में इन्द्रिय कषाय अत्रत गर्भित हो जाने से इन्द्रियादिक के ग्रहण करने की अनर्थकता की आशंका और उसका समाधान—अब यहां एक शंका होती है कि इन्द्रियकषाय और अत्रत ये भी तो क्रिया रूप ही हैं, क्रिया के स्वभाव से ये अलग नहीं हैं, इस कारण एक क्रिया के कहने से ही इन सबका बोध हो जाता, फिर इन्द्रिय, कषाय और अत्रत इनका ग्रहण करना निरर्थक है या केवल एक विस्तार बनाना मात्र है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इन्द्रिय कषाय और अत्रत से जो पृथक् ग्रहण किया गया है उसका कारण है और वह कारण अनेकान्त से स्पष्ट होता है। यहां यह एकान्त नहीं चल सकता कि इन्द्रिय, कषाय और अत्रत ये क्रिया स्वभाव ही हैं। कैसे यह एकान्त न चलेगा? देखिये इन्द्रिय, कषाय और अत्रत चार-चार रूप समझिये—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उनमें से नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपों से परखे गये ये शब्द क्रिया स्वभाव नहीं बैठते। जैसे कि नाम इन्द्रिय में क्रिया नहीं है, नाम मात्र है वह तो और स्थापना रूप इन्द्रिय में भी मुख्य क्रिया नहीं है, उनका तो एक वचन और बुद्धि में स्थापना की प्रवृत्ति मात्र हुई है। कहीं परिस्पंद नहीं हुआ । पर इस द्रव्यनिक्षेप की दृष्टि से जो इन्द्रिय कहलाती है, अतीत काल की इन्द्रिय या भविष्यकाल में हो सकने वाली इन्द्रिय उनमें अभी परिस्पन्द कहाँ है? क्योंकि द्रव्यनिक्षेपका विषय वर्तमानकाल नहीं होता। जैसे जो पहले कोतवाल था और अब न रहा तो उसे लोग कोतवाल साहब कहते हैं। यहां द्रव्यनिक्षेप का विषय है अथवा जो अभी राजा नहीं है, राजपुरुष है और वह राजा बनेगा तो उसे अभी से राजा कहना यह द्रव्यनिक्षेप का विषय है। ऐसे ही इन्द्रिय में भी द्रव्यनिक्षेप की इन्द्रिय अतीत और भविष्य है। वहां तो वर्तमानपना है ही नहीं इसलिए परिस्पंद की क्रिया भी नहीं है। इसी प्रकार नाम स्थापना और द्रव्यनिक्षेप से कषाय और अत्रतों में भी घटित कर लेना। अतः यह एकान्त न रहा कि इन्द्रिय, कषाय और अत्रत, यह क्रियास्वभाव ही है, क्यों कि यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय से यह परखा जाता है कि जब द्रव्यार्थिकनय गौण हो और पर्यायार्थिकनय प्रधान हो तब इन्द्रिय, कषाय और अत्रतको कथञ्चित् क्रियारूप कह सकते हैं और जब पर्यायार्थिकनय को गौण किया जाये और द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता की जाये तब इन्द्रिय, कषाय, अत्रत का लक्षण और है और २५ क्रियाओं का लक्षण और है, अतः इन सबका आस्रव के भेदों में निर्देश किया गया है।

(२३) इन्द्रिय कषाय अत्रत शब्दों की निरर्थकता के प्रतिषेध के विषय की अन्य मीमांसा—एक शङ्काकार कहता है कि यहां ऐसा अर्थ लगाना चाहिए कि इन्द्रिय कषाय और अत्रत ये शुभ और अशुभ आस्रव परिणाम के

अभिमुख हैं, इसलिए द्रव्यास्रवरूप हैं और भावास्रव कर्मों का ग्रहण करना है और वह कर्म २५ क्रियाओं के द्वारा आता है। इस कारण से इन्द्रिय, कषाय और अत्रत को ग्रहण किया है, यह समाधान भी बन जायेगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि इस तरह का अर्थ और समाधान करना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें प्रतिज्ञात कथन से विरोध होता है। अभी पूर्व सूत्रों में यह बताया गया कि शरीर वचन और मन की क्रिया योग है और वह आस्रव है। तो इन सूत्रों से द्रव्यास्रव का निरूपण किया गया है। अथवा वहां निमित्तनैमित्तिक विशेष का ज्ञान कराने के लिए इन्द्रिय आदिक का पृथक् ग्रहण किया गया है। छूना, चखना, सूंघना आदिक क्रोध, मान आदिक, हिंसा आदिक ये ही तो इन्द्रिय, कषाय और अत्रत हैं। तो ये क्रियायें आस्रव हैं और ये २५ क्रियायें इन क्रियाओं से उत्पन्न होती हैं। तो यदि इन्द्रिय, कषाय, अत्रत को क्रियारूप से देखा जाये तो यह क्रिया तो कारण बनती है और जो २५ क्रियायें कही गई हैं वे क्रियारूप बनती हैं, जैसे मूर्छा, ममत्व परिणाम करना कारण है तो परिग्रह संचय होना कार्य है। और इन दोनों के होने पर जो पारिग्राहिकी क्रिया बनी है, परिग्रह की तृष्णा और उसके रक्षण का ध्यान बनाने में जो परिग्रह की क्रिया बनी है वह भिन्न ही रही, तो इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रिय कषाय आदिक का ग्रहण करना आस्रव का विवरण स्पष्ट करने के लिए युक्त ही है। और भी देखिये जैसे क्रोध करना कारण है और दूसरे से मनमुटाव होना यह कार्य है और इससे प्रादोष की क्रिया होती है, और भी। देखिये—मान कषाय कारण है और नम्र न रहे, इठलाये यह कार्य है और इससे प्रात्यायिकी क्रिया बनती है सो वह भिन्न सिद्ध होती ही है। प्रात्यायिकी क्रिया में कुछ अधिकरण को ग्रहण करना या रचना आदिक विचार चलते हैं। और भी उदाहरण लीजिए, जैसे माया कारण है और कुटिलता करना कार्य है और इससे फिर मायाप्रवृत्तिरूप क्रिया होती है। और भी उदाहरण हैं, जैसे प्राणों का घात करना कारण है और प्राणातिपातिकी यह क्रिया है, और भी जैसे झूठ, चोरी, कुशील ये पाप कारण है और इन अत्रत कारणों का आज्ञाव्यापादिकी क्रिया कार्य है मायने आज्ञा न मानना और जो शास्त्रों में लिखा है उसका अर्थ विपरीत करने लगना कार्य है। तो इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय और अत्रत ये कारण रूप होते हैं और २५ क्रियायें कार्यरूप हैं। अतः इन सबका सूत्र में जुदा-जुदा निर्देश करना युक्त ही है।

(२४) सूत्र में कषाय, अत्रत, क्रिया का ग्रहण करने की निरर्थकता की शंका का समाधान—अब यहां एक शंका और होती है कि सिर्फ इन्द्रिय का ही ग्रहण करना चाहिए था, उस ही से समस्त आस्रव होते हैं। उत्तर—यह शंका सही नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय का अभाव होने पर भी कहीं आस्रव पाया जाता है तो यहां उस आस्रव की बात नहीं कही जा रही जो इन्द्रिय की अपेक्षा से ही कहा जाये, किन्तु साम्परायिक आस्रव का यहाँ कथन है। शंकाकार का कहना यद्यपि स्मृल दृष्टि से ठीक है कि केवल इन्द्रिय को ही साम्परायिक आस्रव का कारण मान लिया जाये तो सूत्र बहुत ही छोटा बन जायेगा और जितनी भी क्रियाओं में मनुष्य लोग प्रवृत्ति करते हैं वे इन्द्रिय के द्वारा कुछ प्राप्त करके विचार करके क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं। सो इन्द्रिय कहने से ही सब अर्थ निकल आता। कषाय, अत्रत और क्रियाओं का ग्रहण न करना चाहिए, यह बात मूल दृष्टि से ठीक लगती है,

और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इन्द्रियविषय का अभाव होने पर भी कहीं आस्रव पाया जाता है । यदि इन्द्रियविषय को ही आस्रव कहा जाये तब तो छठे गुणस्थान तक ही आस्रव बनता है । अप्रमत्त अर्थात् ७वें और ७वें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में फिर आस्रव नहीं बनता, क्योंकि प्रमत्त पुरुष ही चक्षु आदिक इन्द्रिय के द्वारा रूपादिक विषयों के सेवन के लिए अनुरक्त होता है अथवा प्रमत्त पुरुष याने कषायसहित पुरुष जिसको प्रमादयुक्त कषाय है वह विषयों का सेवन न भी करे तो भी हिंसा आदिक के कारणभूत अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण वाली ८ कषायों से युक्त है ना, इस कारण वह हिंसा आदिक करता ही है । भाव की अपेक्षा देखिये तो चाहे वह विषयसेवन करे या न करे, प्रमादी होने से निरंतर कर्मों का आस्रव करता है । इस अप्रमत्त व्यक्ति याने जिसके इन्द्रिय, कषाय अत्रत विषयक प्रमाद न रहे, केवल योग और प्रमादरहित कषाय ही है वह भी आस्रव करता है, सो केवल इन्द्रियविषय को ही आस्रवों का कारण मानने पर फिर इन आस्रवों का ग्रहण न होगा । अथवा एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों में किसी के मन नहीं, किसी के कान नहीं, किसी के आंख नहीं, किसी के नाक नहीं, किसी के जीभ नहीं, तो इनके न होने पर भी क्रोधादिक हिंसा होती ही रहती है, कर्मों का आस्रव होता ही रहता है । तो यदि सूत्र में केवल इन्द्रिय का ही ग्रहण किया जाये, अन्य का ग्रहण न हो तो इसका संग्रह करने के लिए सूत्र में इन्द्रिय, कषाय, अत्रत, क्रिया इन सबका ग्रहण किया गया है ।

(२५) सूत्र में केवल कषाय अथवा केवल अत्रत शब्द का ही ग्रहण करने की शंका का समाधान—यहाँ कोई शंकाकार अब यह शंका रख रहा है कि जिस जीव में रागद्वेष नहीं है वह तो इन्द्रिय से विषय ग्रहण करता है, न हिंसा आदिक कोई पाप करता है इस कारण सिर्फ कषाय ही साम्परायिक आस्रव का कारण हुआ । अतः सिर्फ कषाय का ही ग्रहण किया जाये, इन्द्रिय कषाय और अत्रत का ग्रहण न किया जाये । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि साम्परायिक आस्रव के भेद का निरूपण करने वाले इस सूत्र में केवल कषाय को ही ग्रहण करते, अन्य का ग्रहण नहीं करते तो कषाय के सुद्धावमात्र में भी आस्रव का प्रसंग आ जायेगा, याने जिन जीवों के कषाय उपशान्त हैं, पर सत्तारूप में पड़ी हैं सो चक्षु आदिक इन्द्रिय के द्वारा रूपादिक का ज्ञान तो हो ही रहा है । अब उसके रागद्वेष हिंसा आदिक की उत्पत्तिका प्रसंग हो जायेगा । और भी सोचिये—चक्षु आदिक के द्वारा रूपादिक का ज्ञान करने मात्र से कोई रागद्वेष हो जाये तो कभी कोई वीतराग हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह तो ज्ञान का काम है और इन्द्रिय एक साधन है, इन्द्रियद्वार से इस अवस्था में रूपादिक का ज्ञान किया जा रहा है वह तो होता ही है ज्ञान किन्तु चक्षु आदिक के द्वारा रूपादिक का ज्ञान होने पर भी कोई व्यक्ति वीतराग रह सकता है इस कारण कषायमात्र ही सूत्र में ग्रहण किया जाये ऐसा सुद्धाव ठीक नहीं है । यहाँ कोई यदि यह शङ्का करे कि फिर तो केवल सूत्र में अत्रत ही कहा जावे, उसमें ही इन्द्रिय कषाय और क्रियाके परिणाम गर्भित हो जायेंगे तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि पृथक् ग्रहण करने से यहाँ प्रवृत्ति के निमित्त का स्पष्टीकरण हो जाता है । उस अत्रतरूप परिणाम के इन्द्रिय आदिक परिणामन निमित्त कहलाते हैं । अर्थात् इन्द्रिय कषाय और क्रिया निमित्तभूत हैं और अत्रतरूप परिणाम होना नैमित्तिक है । यह सब स्पष्ट करने के

लिए सूत्र में इन्द्रिय, कषाय अत्रत और क्रिया इन चारों का पृथक्-पृथक् ग्रहण किया गया है। अब यहां एक जिज्ञासा होती है कि तीनों योगों द्वारा जन्य साम्प्रायिक आस्रव के जो ३९ प्रभेद बतलाये हैं वे तो सभी आत्मावों के कार्य हैं। सभी संसारी जीवों में पाये जाते हैं, तब उनका फल भी सभी जीवों में एक समान होगा। इसके समाधान में कहते हैं कि ऐसा नहीं है। यद्यपि तीनों योग प्रत्येक आत्मा में सम्भव है संसारी जीवों में फिर भी उनके परिणाम अनन्त प्रकार के हैं और उन परिणामों से उनमें फल में भी विशेषता आती है। तो वह विशेषता किस प्रकार है उसके लिए सूत्र कहते हैं।

सूत्र 6-6

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६-६॥

(२६) आस्रव में विशेषता करने वाले हेतुवों का वर्णन—तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेष के कारण आस्रवों में विशेषता होती है। तीव्र भाव का अर्थ है कि बाहरी और भीतरी कारण मिलने पर उदीरणा और तीव्र उदय में आया हुआ तीव्र परिणाम जिसमें संक्लेश बसा है वह तीव्रभाव कहलाता है। तीव्र शब्द में तीव्र धातु है, जिसका अर्थ है संक्लेशपरिणाम। 'तीवनं तीव्रः,' तीव धातु स्थूल अर्थ में आता है, मोटे परिणाम अर्थात् संक्लेश परिणाम को तीव्र परिणाम कहते हैं। मंदभाव तीव्र भाव से उल्टे भाव मंदभाव कहलाते हैं, ये भी बाह्य और आभ्यंतर कारण से होते हैं, पर कषायों की यहाँ मंदता पायी जाती है। यहाँ कषायों की उदीरणा नहीं है। ऐसे साधारण कारणों के सान्निध्य में उत्पन्न हुआ अनुद्रिक्त परिणाम अर्थात् मंदकषाय वाला परिणाम मंद कहलाता है। मंद शब्द मंद धातु से बना है। मंद धातु का अर्थ है प्रसन्न होना, सुस्त पड़ना, मंद चाल से चलना। मंदनात्मंदः, ऐसी उसकी विरुक्ति है। ज्ञात भावका अर्थ है ज्ञानमात्र भाव अथवा जान करके प्रवृत्ति होना। मारने के परिणाम न होने पर भी हिंसा हो जाने पर मैंने मारा, ऐसा जान लेना ज्ञात भाव है अथवा इस प्राणी को मारना चाहिए, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है। ये ज्ञातभाव के उदाहरण हैं। जैसे लोकव्यवहार में कहते हैं कि यह जान बूझकर पाप कर रहा है। अज्ञातभाव—प्रमाद से या कुछ बेखबरी से क्रियावों में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञातभाव है। जैसे कि लोग कहते हैं कि यह बेचारा जानता नहीं है, बिना जाने कर रहा है, अधिकरण—अर्थात् आधारभूतद्रव्य। किस पदार्थ का आश्रय करके वह प्रवृत्ति कर रहा है, किस पदार्थ पर उसकी दृष्टि लग रही है वह कहलाता है अधिकरण। वीर्यभाव द्रव्य की शक्तियों को कहते हैं। यहाँ भाव शब्द प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए तीव्र भाव, मंदभाव आदिक।

(२७) सूत्रोक्त भावशब्द का प्रकृतार्थ—इस सूत्र में जो भाव शब्द कहा है उसका अर्थ सत्ता नहीं है। सद्भाव, सत्त्व यह भावका अर्थ नहीं है। यदि सत्ता मात्र भावका अर्थ होता तो सत्ता की सामान्यरूपता होने से इसके तीव्र आदिक भेद नहीं हो सकते थे, किन्तु भाव का अर्थ यहां बौद्धिक व्यापार है। उपयोग का व्यापार इस भाव का अर्थ है। इन भावों के होने में परद्रव्य आश्रयभूत होते हैं। तो जो आश्रयभूत हुए उन्हें नोकर्म भी कहते हैं

। उनके भाव दो प्रकार के निरीखये—(१) एक तो परिस्पंदरूप और (२) अपरिस्पंद रूप । अपरिस्पंद रूप भाव तो अस्तित्वादिक है और वह अनादि है । जिसमें हलन-चलन नहीं, क्रिया नहीं, वह अपरिस्पंद कहलाता है । परिस्पदात्मक भाव उत्पाद व्यय रूप है और आदिमान है । अपरिस्पंद भाव तो सामान्यात्मक है और उस दृष्टि से तीव्र आदिक का भेद नहीं हो सकता, किन्तु कामादिक क्रियारूप जो भाव है वह तीव्र आदिक के भेद के हेतु होते हैं । मतलब यह है कि तीव्र आदिक भावों से, बौद्धिक व्यापारों से विशेषता आती है अथवा ये सभी भाव उस काल में आत्मा से अभिन्न हैं सो तीव्रादिक भाव ही तो हैं । एक एक कषाय आदिक के स्थान में असंख्यात लोक प्रमाण भाव हैं । सो परिणामन परिणाम ही भाव शब्द के अर्थ हैं । सत्तारूप भाव यहां नहीं लिया गया है ।

(२८) आत्मा का परिणाम होने पर भी वीर्य शब्द के पृथक् ग्रहण का प्रयोजन—एक शंका होती है कि वीर्य तो आत्मा का परिणाम है । उसको पृथक् ग्रहण क्यों किया है ? उत्तर—वीर्य विशेष जिनके पाया जाता है उनकी क्रियाओं में हिंसा आदिक व्यापारों में, आस्रव में हल्का भारीपन आ जाया करता है । यह बात दिखाने के लिए वीर्य का पृथक् ग्रहण किया है । जैसे कोई बलवान पुरुष है तो वह हजारों आदमियों को मार डालता है तो उसका आस्रव विशेष बनेगा । कोई कम वीर्य वाला है वह उपद्रव नहीं कर सकता है तो उसका आस्रव कम होगा अथवा केवल वीर्य से ही बात न चलेगी । शक्ति और शक्ति न होने पर भी जैसा भीतर में परिणाम हो उस तरह से आस्रव बनेगा । जिसके शक्ति कम है और परिणामों में ईर्ष्या, बुरा विचारना आदिक तीव्रता से हो रहे हैं तो उसके तीव्र आस्रव होगा । आस्रव के जो हेतु बताये जा रहे हैं उनमें ऐसा तो है नहीं कि एक ही भाव किसी जीव के हो, जैसे तीव्र मंद में से कुछ एक होगा, पर उसके साथ ज्ञाता द्रष्टा आदिक में से भी होता है, इस कारण एक भाव की ओर से पूरा निर्णय न बनेगा कि इसके आस्रव कम होगा या अधिक होगा । जब कार्यभेद है तो कारणभेद भी सब सिद्ध हो जाता है, जब कि आस्रव के भेद अनन्त हैं अनुभाग की दृष्टि से तो उसके कार्य भी अनन्त हो गए और कार्य अनन्त हुए, तो कारण भी अनन्त हैं, ऐसा अनुमान बनता है, यहां सूत्र का प्रयोजन है आस्रवभेद बताकर फलभेद बताना याने तीव्र आदि से भावों को जो आस्रव होगा उसका फल कठोर होगा । और ऐसी आस्रवविधि जानकर भव्य पुरुष उसके साधनों से हटेगा । यदि वीर्य को आत्मपरिणाम मानकर यहां ग्रहण करने की जरूरत न समझे तो ऐसा ही विचार अन्य के प्रति भी हो सकता है । वह भी आत्मपरिणाम होता है । तो इस प्रकार तो सिर्फ अधिकरण शब्द से ही कार्य चल जाता, क्योंकि तीव्र मंद ज्ञात आदिक जो भाव हैं वे जीवाधिकरणरूप हैं, फिर तो सूत्र ही बनाने की आवश्यकता न थी । आगे स्वयं ही ऐसा सूत्र आने वाला है, 'अधिकरणं जीवाजीव', मगर यहां विशेषता बताना आवश्यक है । यह ग्रंथ मोक्षमार्ग का है, भव्य जीव मोक्ष में प्रगति कर सकें, उस मार्ग पर चल सके, इसके लिए ही तो सारा विवरण है । तो जब विशेषताओं के साथ आस्रव आदिक बताये जायेंगे तब ही तो आस्रव से हटना और स्वभाव में लगना यह अभीष्ट होगा । अब यह जिज्ञासा बनती है कि अधिकरण भी कहने पर उसका स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ, उसका विशेष ज्ञान कराया जाना आवश्यक है, सो उसके विषय में वर्णन करना चाहिए । उसी के समाधान में सर्वप्रथम भेद

अधिकरण के भेद बनाकर उसका ब्योरा बतायेंगे । सो यहां भेद के निरूपण के द्वारा अधिकरण का स्वरूप जानने के लिए सूत्र कहते हैं—

सूत्र 6-7

अधिकरणंजीवाजीवाः ॥६-७॥

(२९) जीव और अजीव आस्रव का आधाररूप—जीव और अजीव आस्रव के अधिकरण हैं । यद्यपि जीव और अजीव की व्याख्या हो चुकी, फिर भी उनको आस्रव के आधार रूपसे बताते हैं, इस कारण पुनः उनके अधिकरण के रूपसे वर्णन किया जा रहा है । जैसे हिंसा आदिक के उपकरण रूप से जीव आधार है, अजीव भी आधार है, यहां अधिकरणास्रव के दो भेद कहे हैं—(१) जीवाधिकरण और (२) अजीवाधिकरण । इसका आगे ब्योरा आयेगा उससे यह स्पष्ट हो जायेगा, पर यहां सामान्य रूप से इतना जानना कि चूंकि अनन्त पर्याय वाले जीव और अजीव अधिकरण बनते हैं सो इसकी सूचना देने के लिए सूत्र में जीवाजीवः यह बहुवचन कहा गया है । अर्थ है कि जीव और अजीव आस्रव के अधिकरण होते हैं । यहाँ एक शंका होती है कि इन शब्दों को एक साथ मिला दिया जाना चाहिए । जीवाजीवाधिकरणं इतना ही सूत्र बनाना चाहिए । सूत्र भी छोटा हो गया और अर्थ भी निकल जायेगा इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह सुझाव ठीक नहीं है, क्योंकि यहां समास बन जाता है और यह समास कर्मधारय और तत्पुरुष इन दो रूपों में बनता है, जिससे अर्थ यह होता है कि अजीव ही अधिकरण हैं, और तत्पुरुष समास का यह अर्थ होता है कि जीव और अजीव का अधिकरण है । सो यहां जो सूत्र का अभिप्रेत अर्थ है वह इन दोनों समासों में भी नहीं निकलता । जब कर्मधारय समास किया अर्थात् समानाधिकरण वाला समास किया तो वहाँ केवल जीव अजीव से विशिष्ट अधिकरण मात्र का ज्ञान होता । वहां आस्रव विशेष का ज्ञान न हो सका इस कारण यह समास ठीक नहीं है । दूसरा भिन्नाधिकरण्य वाला समास है तत्पुरुष समास, तो उस समास में एक जीव अजीव का आधार मात्र ही ज्ञात हो सका, इससे भी यह नहीं जाना जा सका कि आस्रव विशेष जीव और अजीव के आधार से होता है । जीव पाप करता है, कराता है, मन से सोचता है आदिक जो पाप करते, आस्रव होते वे जीव के आधार में हो रहे और तभी कोई तलवार बनाने वाला पुरुष तलवार बनाते हुए उसकी धार को निरखता है तो उसके मन में भाव जगता है कि यह तलवार अब खूब काम करेगी, पशु घात के लायक बन गई, तो उस अजीव पदार्थ तलवार के बनाने के प्रसंग में उसे पाप और आस्रव हो रहे हैं, यह सब रहस्य इन समासों में नहीं प्रकट होता है, और फिर जीव और अजीव का आधार अन्य कोई नहीं विदित होता । जीव स्वयं तो आपमें है । अजीव पदार्थ वह अपने आपमें है, तो ये दोनों ही समास ठीक नहीं बैठते इस कारण सूत्र में जो भिन्न-भिन्न निर्देश करके पाठ दिए गए हैं वे पाठ सही हैं, और उससे क्या ध्वनित होता है कि जीव और अजीव आधार है, तो प्रश्न होता है कि किसके आधार है? तो उत्तर होता है कि आस्रव के आधार है । यहां एक बात और समझ लेना है कि आस्रव शब्द इस सूत्र में तो कहा नहीं गया, उसकी अनवृत्ति लेनी पड़ेगी तो इससे पहले के जो सूत्र हैं, जिसके प्रकरण

में यह सब विवरण चल रहा है वह है आस्रव । उसका सर्वप्रथम प्रयोग दूसरे सूत्र में किया गया है । स आस्रवः, सो यहां आस्रव शब्द प्रथमाविभक्ति के एक वचन में है । पर इस प्रकरण में उसकी अनवृत्ति करने पर भी विभक्ति बदल जायेगी । षष्ठी का एक वचन यहाँ प्रयुक्त होगा । तब अर्थ हुआ कि जीव और अजीव आस्रव के कारण है अर्थात् आस्रव इसके आधार में होता है । अब जिज्ञासा होती है कि क्या इतने ही दो भेद हैं या इसके और भी भेद हो सकते हैं? तो उसके समाधान में जानना कि इसके और भी भेद हैं जिसमें प्रथम है जीवाधिकरण्यास्रव जो कि साम्प्रायिक आस्रव का विशेषण है, सो उस जीवाधिकरण्य के भेद कहते हैं ।

सूत्र 6-8

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय ॥ ६-८॥

विशैषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥६-८॥

(३०) जीवाधिकरण साम्प्रायिक आस्रव के प्रकार—आद्य का अधिकरण अर्थात् जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन मन, वचन, काय ये तीन योग, कृतकारित अनुमोदना ये तीन और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय इनके द्वारा उत्पन्न होते हैं, और इन सबमें एक पाप में एक ही द्वार हो, ऐसा नहीं है । यहाँ ४ बातें कही गई हैं—संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ इन तीन में से कोई भी एक हो, मन, वचन, काय इन तीन योगों में से कोई भी एक हो, करना, कराना, अनुमोदना इन तीन में से कोई एक हो और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार में से कोई एक हो, ऐसे इस प्रकार एक-एक लेकर चार के समुदाय में आस्रव और पाप होते हैं । जैसे इसमें प्रथम भेद मानिये क्रोधवश होकर मन से संरम्भ किया, जिसका अर्थ यह है कि क्रोध कषाय के आवेग में मन से पाप करने का बदलकर विचार स्वयं किया तो यह एक पाप हो गया, ऐसे ही इसको पाप के नाम बनाने से ये सब १०८ भेद हो जाते हैं । यों साम्प्रायिक आस्रव के हेतुभूत पापभाव १०८ प्रकार के हैं । इन १०८ प्रकार के भावों को टालने के लिए जाप में भी १०८ दानों पर स्मरण किया जाता है । एक बार प्रभु का नाम लेकर यह भावना की जाती है कि मेरे ये पाप समाप्त हों ।

(३१) सूत्र में आद्य शब्द ग्रहण करने का प्रयोजन व संरम्भ समारम्भ व आरम्भ का भाव—यहां एक शंका होती है कि इस सूत्र में आद्य शब्द ग्रहण न करने से भी काम चल जाता, अपने आप सामर्थ्य से ही सिद्धि हो जाती है । वह सामर्थ्य क्या कि इस सूत्र के बाद जो सूत्र आयेगा उसमें परम् शब्द पड़ा है अर्थात् दूसरे अधिकरण के ये भेद हैं । तो उससे अपने आप ही यह सिद्ध है कि ये पूर्व अधिकरण के भेद हैं अर्थात् जीवाधिकरण के प्रकार हैं । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि आद्य शब्द इस सूत्र में न देते तो इसको पढ़कर तुरन्त ही कोई स्पष्ट अर्थ न निकलता । एक अनुमान बनाकर अर्थ सोचा जाता तो उसमें जानकारी कठिन हो जाती है । इसलिए स्पष्ट करने के लिए आद्य शब्द दिया है कि यह भेद जीवाधिक रंगरूप है । संरम्भ शब्द का अर्थ है हिंसा करने के अभिप्राय रखने वाले का जो प्रयत्न का विचार करता है वह संरम्भ है, और समारम्भ क्या हुआ? पापके साधनों को जोड़ना समारम्भ है और फिर पापमें प्रवृत्ति करना आरम्भ है ।

कोई से भी पाप किए जाते हैं तो प्रथम कुछ विचार होता है, फिर उसके साधन बनाये जाते हैं, फिर पाप किए जाते हैं। तो ऐसा सर्वत्र साम्प्रदायिक आस्रवों के प्रसंगमें ये तीन बातें हुआ करती हैं, भीतर भाव जगना, फिर उसके साधन बनना और फिर उसकी प्रवृत्ति करना। सर्वप्रथम विचार चलता है तो हिंसा आदिक पापों की प्रवृत्तियों में जो प्रयत्न करने का संकल्प बनाया कि मैं इससे मारूँगा, यह चीज उठाऊँगा, मैं उसके साथ राग करूँगा या धन जोड़ूँगा आदिक रूप से जो अभिप्राय बनता है उस अभिप्राय को संरम्भ कहते हैं और जिस कार्य के लिए संरम्भ किया उस कार्य के साधनभूत जो पदार्थ हैं उनका अभ्यास करना। जैसे किसी ने यह संकल्प किया संरम्भ में कि मैं इसको लाठी से मारूँगा या वध करूँगा तो अब लाठी सीखना, तलवार सीखना, इस प्रकार का अभ्यास बनाना वह समारम्भ हो गया अथवा उसके साधनों को इकट्ठा करना समारम्भ हो गया। किसी ने परिग्रह की बुद्धि बनाया कि मैं इस प्रकार से यह व्यापार करूँगा, दूकान खोलूँगा तो संकल्प तो संरम्भ हुआ, अब उसके साधन जुटाना दूकान बनवाना, किराये पर लेना, उसका मटेरियल जमा करना यह सब समारम्भ हो गया, और जिस समय प्रारम्भ किया, उस कार्य को शुरू किया तो वह आरम्भ हो गया। ये तीनों शब्द संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, ये भाववाचक हैं, इस कारण इनकी उत्पत्ति भावसाधन में होगी। 'संरम्भणं संरम्भः, समारम्भणं समारम्भः, आरम्भनं आरम्भः' इस प्रकार ये वस्तु को बताने वाले तीन भेद हुए।

(३२) काययोग वचनयोग मनोयोग कृतकारित अनुमत का स्वरूप—संरंभादि के पश्चात् योग आता है। योग का विवरण बहुत पहले कर ही दिया गया है। कायकी क्रिया काययोग, वचन की क्रिया वचनयोग, मन की क्रिया मनोयोग अथवा काय की क्रिया के लिए आत्मपरिस्पंद काययोग, वचन की क्रियाके लिए आत्मपरिस्पंद वचनयोग, मन की क्रिया के लिए आत्मप्रदेश परिस्पंद मनोयोग अथवा कार्माणवर्गणावों का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पंद होना काययोग। वचन वर्गणावों का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पंद होना वचनयोग, कायवर्गणावों का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पंद होना काययोग। योग में मुख्यता आत्मप्रदेश परिस्पंद की है और काय आदिक के भेद से भेद करना यह औपचारिक भेद है। योग के बाद सूत्र में आया है कृतकारित अनुमत। स्वतंत्रतया आत्मा के द्वारा जो किया गया वह कृत कहलाता है। किसी भी कृत पाप में दूसरे की अपेक्षा नहीं की गई, किन्तु यह स्वयं ही उस पाप को विचारता है, साधन जोड़ता है और प्रारम्भ करता है। कारित पाप में दूसरे के प्रयोग की अपेक्षा है। कारित कहते हैं कराये हुए को तो कराया हुआ तब ही कहलाता जब दूसरे के आदेश या प्रयोग की अपेक्षा करके सिद्धि होती है किसी कार्य की तब उसे कारित कहते हैं। अनुमत का अर्थ है प्रयोजक पुरुष के मानसिक परिणाम करना। जैसे कोई मौनव्रती है, आँखों से देखने वाला है, उस कार्य को देख रहा है और प्रसंग भी ऐसा है कि उस कार्य का निषेध किया जाना उचित है, पर वह निषेध नहीं करता और उसको ठीक मान रहा तो वहां अनुमत नाम का पाप लगेगा। ऐसी अनुमोदना करने वाले को अनुमंता कहते हैं। तो एक अनुमंता तो वह हुआ जो चुपचाप उसका अनुमोदन कर रहा। एक दूसरा अनुमंता कराने वाला भी होता है। जब कराने वाले ने उसका प्रयोग करवाया तो उस कार्यमें समर्थ आचरण में उसका मन लगा ना तो वह भी अनुमंता कहलाया। तो अनुमत पाप उसे कहते हैं कि कोई करे या कराये,

है ।

(३५) एक सौ आठ पापों के नाम बनाने की विधि—पाप के नाम बनाने के लिए प्रतिलोम विधि से एक एक नाम लेकर ४ के नाम का एक पाप का नाम बनता है । जैसे अन्त में कहा गया है कषाय । तो एक कषाय का नाम रखिये उससे पूर्व कहा गया है कृतकारित अनुमत, इनमें से एक रखिये उससे पूर्व कहा है योग । उन तीन योगों में से एक नाम रखिये फिर संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ में एक शब्द रखिये तो वह एक पाप का नाम हो जायेगा । जैसे [१] क्रोध—कृतकायसंरम्भ फिर इसके बाद दूसरे नम्बर के पाप का नाम लेने के लिए उस आखिरी की ही बदल करिये । [२] मानकृतकाय संरम्भ, फिर [३] तीसरा मायाकृतकायसंरम्भ, फिर [४] चौथा—लोभकृतकाय संरम्भ । चारों कषायों के आधार पर और सबके पृथक्-पृथक् भेद के साथ नाम बन जाने पर अब कषाय से पहले कहे गए कृतादि भेद को बदलना होगा । (५) पांचवां बना क्रोधकारितकायसंरम्भ । [६] मानकारितकाय संरम्भ [७] मायाकारितकायसंरम्भ [८] लोभकारितकायसंरम्भ । यों कारित की अपेक्षा ४ भेद और हो जाने से ९ वाँ भेद बनाने के लिए कृतकारित अनुमत में से फिर आगे बढ़ते हैं, तो बदलकर अनुमत शब्द रखा जिससे ४ भेद बने [९] क्रोधानुमतकायसंरम्भ, [१०] मानानुमतकायसंरम्भ, जिसका सीधा अर्थ हुआ कि मान के द्वारा अनुमोदना किया गया काय के पापका विचार [११] ग्यारहवां हुआ मायानुमतकायसंरम्भ और [१२] बारहवां हुआ लोभानुमतकायसंरम्भ । जब इस प्रकार संरम्भ पापविषयक १२ भेद हो चुके तब समारम्भ के भी इसी प्रकार १२ भेद होंगे । अर्थात् जैसे ये भेद कहे गये हैं, उनके अन्त में संरम्भ शब्द आया है तो संरम्भ के एवज में समारम्भ शब्द आयेगा । समारम्भ भी १२ होते हैं । तब आरम्भ के भी ऐसे ही १२ भेद करना । तो आखिरी समारम्भ के एवज में आरम्भ शब्द देना, इस प्रकार काय सम्बन्धी पाप ३६ प्रकार के होते हैं । ऐसे ही वचन सम्बन्धी पाप ३६ प्रकार के हैं और मन संबन्धी पाप भी ३६ प्रकार के हैं । यों ये साम्प्रायिक आस्रव के जीवाधिकरण १०८ प्रकार के होते हैं अर्थात् जीव का ही आलम्बन लेकर अपने आपके मन, वचन, काय के प्रयोग का आलम्बन लेकर ये १०८ पाप होते हैं ।

(३६) सूत्रोक्त च शब्द से क्रोधादि के अन्य विशेषों का संग्रह—इस सूत्र में जो च शब्द दिया है उसके देने की आवश्यकता तो न थी, फिर भी दिया है । तो वह निरर्थक होकर एक रहस्य को प्रकट करता है कि कषायें यहां पर ४ कही गई हैं तो उन ४ के भी भेद अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन होते हैं । इस प्रकार ४ का और गुणा करने से ये सब ४३२ प्रकार के जीवाधिकरण आस्रव हों जाते हैं । और जो अनन्ताधुबंधी आदिक लगाये गए सो उनके साथ सम्बंध होने से इन सभी में जीवाधिकरणपना सिद्ध होता है।

जैसे कि नील रंग में डाला हुआ कपड़ा उस नील से रंग जाने के कारण वह भी नीला ही कहलाता है ऐसे ही संरम्भादिक जितनी भी क्रियायें हैं उन क्रियाओं में अनन्तानुबंधी आदिक कषायों का सम्बंध होने के कारण वे भी जीवाधिकरण कहलाती हैं । इस प्रकार जीवाधिकरण के ४३२ भेद बताये गए हैं । अब जगत में जितने भी पाप होते हैं किसी भी जीव के द्वारा पाप बनते हैं तो वे पाप इन ४३२ में से किसी नाम वाला पाप होता है ।

(३७) साधुजनों की निष्पापता—ये पाप जिसके नहीं होते हैं वे साधु कहलाते हैं या कहो कि १०८ प्रकार के पापों का त्याग होने से ही साधुओं के सम्मान में १०८ श्री लगाकर बोलते हैं। जैसे कहते हैं श्री १०८ अमुक मुनि महाराज, तो उसका अर्थ है कि श्री एक बार न कहकर श्री-श्री ऐसा १०८ बार बोलना चाहिए, फिर उसके बाद मुनि महाराज का नाम लेना चाहिए, पर ऐसा १०८ बार श्री गिनेगा कौन और इतना कहेगा कौन, और कदाचित् कोई इतना कहकर नाम ले तो उसे तो लोग बड़े आश्चर्य के साथ देखेंगे कि इसके दिमाग में क्या हो

ही गया? तो उसका एक संकेत है श्री १०८ कहना। साधु महाराज के ये कोई पाप नहीं होते। जो वास्तविक मुनि है वह किसी भी प्रकार के पाप का विचार नहीं करता, न उसके साधन जोड़ेगा। जब आशय ही नहीं किसी भी पाप का तो साधन जोड़ना और उसका प्रारम्भ करना यह तो हो ही कैसे सकेगा? इस प्रकार न वह पापकर्म करता है, न पाप की अनुमोदना करता है, और इन पापों के लिए उसके मन, वचन, काय की वृत्ति भी नहीं होती। उसके कषायें भी नहीं जगती। यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभ संज्वलन विषयक साधुओं के पाये आते हैं और इस दृष्टि से देखा जाये तो कुछ पाप तो हो ही रहा है, मगर रूढ़ि में, देखने में, अनुभवने में जिन पापों की बात आती है उन पापों की अपेक्षा यह बात कही जा रही है अथवा उनके जो भी क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें रह गई हैं तो उनका रूप बदला हुआ रहता है। कोई आचरण बिगड़ जाये तो उसके लिए क्रोध होगा। अपने आपकी ज्ञानगरिमा को रखने के लिए अर्थात् ज्ञान स्वरूप से अपना महत्त्व समझने विषयक मान होगा। कोई विहार आदिक का कार्य करना पड़े और आशय नहीं है या दीक्षा शिक्षा आदिक कृत्य करना पड़ता, उपदेश आदिक करना पड़ता और उसका चाव नहीं है, क्योंकि वे सब परालम्बी बातें है तो इस प्रकार की माया का प्रयोग समझ लीजिए। उनको लोभ होता है अपना आचरण पवित्र रखने का, परिणाम निर्मल रखने का और अपनी योग्य क्रियाओं से च्युत न होने का। यों साधु निष्पाप होते हैं। अब जीवाधिकरण के भेद बतानेके बाद जीवाधिकरण से विपरीत जो अजीवाधिकरण है उसके भेद बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

सूत्र 6-9

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्विभिदाः परम् ॥ ६-९ ॥

(३८) अजीवाधिकरण आस्रवके भेद—निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग ये क्रमशः दो चार, दो, तीन भेद वाले हैं और ये सब अजीवाधिकरण हैं। निर्वर्तना का अर्थ है रचना। यह शब्द कर्मसाधन में लगाना है। जो रचा जाये सो निर्वर्तना निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना, इसी प्रकार निक्षेप भी कर्मसाधन में है, निक्षेप का अर्थ है रखना, जो रखा जाये सो निक्षेप 'निक्षिप्यते इति निक्षेपः' संयोग का अर्थ है मिलाना, यह भी कर्मसाधन में है। 'संयुज्यते असौ संयोगः' जो मिलाया जाये सो संयोग। निसर्ग का अर्थ है प्रवृत्ति' यह भी कर्मसाधन में है। 'निसृज्यते असौ निसर्गः,' अथवा इन चारों शब्दों का भाव साधन में भी अर्थ किया जा सकता है। रचना सो निर्वर्तना, निर्वर्तन निर्वर्तना, रखना सो निक्षेप, निक्षेपणं निक्षेपः, मिलना सो संयोग संयुक्ति संयोगः, प्रवर्तन करना

सो निसर्ग, निसृष्टि: निसर्ग: यहाँ अधिकरण शब्द की अनुवृत्ति आती है अर्थात् पूर्व सूत्र में जहां कि अधिकरण के भेद किए गए थे उस ७ वें सूत्र में जो अधिकरण शब्द प्रयोग किया गया है उसकी अनुवृत्ति ८ वें सूत्र में भी थी और इस ९ वें सूत्र में भी करना, तब अर्थ हुआ कि ये सब अजीवाधिकरण आस्रव हैं, अर्थात् इन अजीव पदार्थों के आलम्बन से, इनके विचार से कर्म का आस्रव होता है ।

(३९) अजीवाधिकरण आस्रव के भेदों का स्वरूप—इस सूत्र में ३ पद हैं । प्रथम पद में तो चार संज्ञायें हैं और उनका समास किया गया है, दूसरे पद में संख्या शब्दों का कथन है और ये संख्यायें उनमें क्रम से लगती है अर्थात् निर्वर्तना के दो भेद है, निक्षेप के चार भेद हैं, संयोग के दो भेद हैं और निसर्ग के ३ भेद हैं । निर्वर्तना रचना को कहते हैं । यह मूल रचना और उत्तर रचना के भेद से दो प्रकार है । जीव के साथ सम्बद्ध जो औदारिक आदिक ५ शरीर हैं और वचन, मन, श्वासोच्छ्वास हैं, इनका जो निष्पादन है बनता रहना है, इसका जो बनना है वह मूलनिर्वर्तना है । इसके सहारे जीव के परिणाम होते हैं और उनसे कर्म का आस्रव होता है । जो असम्बद्ध है प्रकट बाह्य क्षेत्र में है ऐसी चीजों का निष्पादन करना उत्तरगुण निर्वर्तना है । जैसे कोई काठ की चीज बनाता, चित्र बनाता, तलवार, छुरी आदिक बनाता या धार्मिक ग्रंथ पर धार्मिक पुरुषों के चित्र बनाता, यह सब उत्तरगुण निर्वर्तना है । इससे भी कर्मों का आस्रव होना है । शुभ हों अथवा अशुभ हों । निक्षेप ४ प्रकार के हैं । निक्षेप का अर्थ है रखना । बिना देखे हुए जमीन पर चीज का रख देना यह निक्षेप का प्रथम भेद है । इसका नाम है अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दूसरा निक्षेप का भेद है दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण अर्थात् बड़े बुरे भाव से, जोर से चीज का रख देना । जैसे कभी गुस्सा आता हो तो लोटा, थाली आदिक कुछ भी बड़े जोर से रखे जाते हैं तो बुरे भाव से हींसकर, दुःखी होकर रखना सो यह दूसरा निक्षेप है । तीसरे निक्षेप का नाम है सहसानिक्षेपाधिकरण । जल्दी ही किस चीज को धर देना, धरने में जल्दबाजी कारना, जल्दबाजी से कोई चीज रखने में हिंसा सम्भव है और उससे कर्म का आस्रव होता है । चौथा निक्षेप है अनाभोग निक्षेपाधिकरण अर्थात् किसी चीज को एक ओर से रखना, पूरी ही न रखना या बिना विचारे यत्र तत्र रखना यह चौथा निक्षेप है । इन प्रवृत्तियों से कर्मों का आस्रव होता है । संयोगाधिकरण दो प्रकार का है—(१) भोजनपान संयोग, (२) उपकरण संयोग । भोजनपान में अन्य भोजनपान का संयोग कर देना, ठंडे में गर्म मिला देना, गर्म में ठंडा रख देना यह सब प्रथम संयोग हैं । दूसरा संयोगाधिकरण है उपकरणसंयोगाधिकरण । जिस वस्तु पर जो-जो वस्तु प्रायः नहीं रख देना या गरम वस्तु पर ठंडी वस्तु रखी जाती उसको रख देना याने अनमेल एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ रखना यह उपकरणसंयोगाधिकरण है । जैसे धार्मिक ग्रन्थ पर कोई चश्मा आदिक चीज न रखना चाहिए, उससे विनय में अंतर होता है । पर रख दिया यह उपकरण संयोग है या शास्त्र के बीच कोई सीक रख देना ख्याल के लिए कि यहां तक पढ़ लिया । जो वस्तु जहाँ न रखी जानी चाहिए उसको वहां संयोग कराना यह उपकरण संयोग है । निसर्ग आस्रव तीन प्रकार के हैं । शरीर से प्रवृत्ति करना, वचन से प्रवृत्ति करना और मन से प्रवृत्ति करना, इस तरह ये अजीवाधिकरण के भेद कहे गए हैं ।

(४०) सूत्र में पर शब्द के ग्रहण की निरर्थकता की शंका—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि सूत्र में पर शब्द

का प्रयोग न करना चाहिए, क्योंकि इससे पहले सूत्र में आद्य शब्द आ चुका है कि वे प्रथम अधिकरण के भेद हैं। तो यहां अपने आप सिद्ध हो जायेगा कि ये दूसरे अधिकरण के अर्थात् अजीवाधिकरण के भेद है अथवा यदि इस सूत्र में पर शब्द रखना है तो पहले सूत्र में आद्य शब्द न कहना चाहिए, क्योंकि यह एक के कहने पर दूसरे की बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। जैसे कोई यह कहे कि मेघ न होने पर वृष्टि नहीं होती तो अपने

आप यह बात सिद्ध हो गई कि मेघ के होने पर वृष्टि होती है। यहां कोई यह शंका न करे कि मेघों के होने पर वृष्टि होती भी है नहीं भी होती है, तो उसका उत्तर यह है कि वहां ऐसा नियम नहीं बनाया जा रहा। जब यह कहा कि मेघ के न होने पर वृष्टि नहीं होती तो उसका अर्थ यह निकला कि मेघ के होने पर ही वृष्टि होती है। जैसे कोई कहे कि अहिंसाधर्म है तो दूसरी बात अपने आप सिद्ध ही हो जाती कि हिंसा अधर्म है। तो ऐसे ही यदि आद्य शब्द दिया है पहले सूत्र में तो इस सूत्रमें "पर" शब्द न कहना चाहिए। यदि इस सूत्र में 'पर' शब्द दिया जाता है तो प्रथम सूत्र में आद्य शब्द न कहना चाहिए। यदि कोई ऐसा उत्तर देने की कोशिश करे कि "पर" शब्द न देनेसे सम्बंध ठीक नहीं बनता, न जाने किससे सम्बंध बन जाये तो उसका उत्तर यह है कि अन्य किसी का अर्थ से सम्बन्ध बने ऐसा कोई है ही नहीं। प्रकरण दोनों का चल रहा है जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण का। यहां यह संदेह न होगा कि कहीं जीवाधिकरण न मान लिया जाये। उसका तो वर्णन इससे पहले सूत्र में हो चुका है, वह जीवाधिकरण है। तो बचे हुए के न्याय से अपने आप अजीवाधिकरण है यहां यह सिद्ध हो जाता है इस कारण इस सूत्र में पर शब्द कहना अनर्थक है। कोई ऐसी भी आकांक्षा न करे कि यहां पर शब्दका अर्थ प्रकृष्ट मान लेंगे तो क्या यह अजीवाधिकरण प्रकृष्ट हो गया और जीवाधिकरण निकृष्ट हुआ जिससे प्रकृष्ट अजीवाधिकरण माना जाये। यों जीवाधिकरण रद्दी हुआ, अजीवाधिकरण उत्कृष्ट हुआ ऐसा कुछ नहीं है। कोई ऐसी भी आशंका न रखे कि पर शब्द का अर्थ इष्ट मान लेंगे। जैसे कहा कि यह परमधाम को गया मायने इष्टधाम गया, ऐसा इष्ट अर्थ मानना क्यों ठीक नहीं है कि ऐसा मानने पर वह अनिष्ट क्या है जिसके होने पर यह पर शब्द इष्ट है? कोई निर्वर्त्य नहीं, कुछ भी नहीं, तब पर शब्द का प्रयोग करना अनर्थक है ऐसी यह एक आशंका होती है।

(४१) सूत्र में "पर" शब्द के ग्रहण की निरर्थकता की आशंका का समाधान—अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं। सूत्र में जो पर शब्द दिया है और वह अनर्थक नहीं है, क्योंकि इस सूत्र में पर शब्द से कुछ रहस्यपूर्ण अन्य अर्थ निकलता। और वह अर्थ यह निकलता कि ये निर्वर्तना आदिक पूर्वोक्त संरम्भ आदिक से भिन्न हैं। यदि ऐसा ध्वनित न होवे तो जैसे संरम्भ आदिक जीवके परिणाम हैं और वे जीवाधिकरण माने गए हैं ऐसे ही निर्वर्तना आदिक भी जीव के परिणाम मान लिए जायेंगे और ये जीवाधिकरण कहलायेंगे, इस कारण सूत्र में पर शब्द को ग्रहण किया गया है अथवा सब स्पष्ट करने के लिए "पर" शब्द ग्रहण किया गया है अथवा इस 'पर' शब्द के द्वारा इष्ट अर्थ भी जाना जा सकता है, वह इष्ट अर्थ वह है जो, कि निर्वर्तना आदिक के भेदों के विवरण में ध्वनित किया गया है। अब यहां एक जिज्ञासा होती है कि इस आस्रव के प्रकरण में मन, वचन,

काय के परिणाम बताये गए । ये योग हैं और ये आस्रव कहलाते हैं, और इन तीनों योगों के परिणाम अनन्त ढंग के हैं, पर एक आस्रव का एक वचन में प्रयोग होने से क्या यह सिद्ध होता है कि सभी कर्मों का आस्रव एक रूप से होता है । उसका उत्तर संक्षेप में यह है कि एक ढंग से सर्व प्रकार के आस्रव नहीं होते । कोई किसी का किसी कारण से काय आदिक का व्यापार जैसे होता है उस प्रकार के आस्रव होते हैं । तो उनमें सर्वप्रथम ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव की बात कहते हैं ।

सूत्र 6-10

तत्प्रदोषनिह्वमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥६-१०॥

(४२) ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के ये आस्रव कहे गए हैं । वे कौनसे हैं? ज्ञान के विषय में (१) प्रदोष, (२) निह्व, (३) मात्सर्य, (४) अन्तराय, (५) आसादन और (६) उपघात । ज्ञान के विषय में ये परिणाम हों तो ज्ञानावरण का आस्रव होता है और दर्शन के विषय में परिणाम हों तो दर्शनावरण का आस्रव होता है । प्रदोष किसे कहते हैं? मोक्षमार्ग के कारणभूत ज्ञान का कीर्तन होने पर, उसकी प्रशंसा की जाने पर जिस किसी को बर्दास्त न हो उसके अन्तरंग में जो बुरे लगने के परिणाम हैं पैशून्य अर्थात् चुगली आदिक के परिणाम हैं वे प्रदोष कहलाते हैं । याने उस ज्ञानकीर्तन के बारे में पीठ पीछे निन्दा करना, उस ज्ञान के विषय में दोष बताने का यत्न करना ये सब प्रदोष कहलाते हैं । जो पुरुष ज्ञान के विषय में प्रदोष करता है उसके ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है । दूसरा है ज्ञाननिह्व—ज्ञान का छुपा लेना । किसी बहाने से या किसी कार्य का बहाना करके यों कहना कि अभी फुरसत नहीं या हम नहीं जानते, किसी भी रूप से ज्ञान को छुपा लेना यह ज्ञाननिह्व है । ऐसे प्रयोग से ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है । तीसरा है ज्ञानमात्सर्य—जिसके पास ज्ञान है वह अन्य दूसरे को ज्ञान देवे यह बात युक्त है, किन्तु कुछ ऐसा ख्याल करके कि हमने इसे भी सिखा दिया तब तो इसकी ख्याति प्रसिद्धि हो जायेगी तो उससे एक मात्सर्यभाव आया और उस मात्सर्य भाव के कारण कोई बहाना करके उसे ज्ञान न देना सो ज्ञानमात्सर्य है । ज्ञानमात्सर्यका भाव करने से ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है जिसके फल में जब इन कर्मों का उदय आयगा तो यह मूर्ख रहेगा, खूब सिखाया जाने पर भी इसे विद्या न आयेगी । चौथा है ज्ञानान्तराय—खोटे परिणाम होने से ज्ञान में अन्तर डाल देना सो ज्ञानान्तराय है, जैसे किसी विद्यार्थी को कोई छात्रवृत्ति देना चाहे और उसमें कोई विघ्न डाल दे कुछ कह कर या कोई किसी को शास्त्र देना चाह रहा है और उसमें कोई अन्तराय डाल दे, किसी भी प्रकार से ज्ञान में अन्तर पड़ जाये उसे ज्ञानान्तराय कहते हैं । ऐसे कर्मों से ऐसी ज्ञानावरण प्रकृतियों का आस्रव होता है कि उसे भी भविष्य में अनेक विघ्न आते रहेंगे और वह ज्ञान न पा सकेगा । पांचवां है ज्ञानासादन—कोई दूसरा ज्ञान दे रहा हो या ज्ञान का प्रकाशन करना चाहे तो उस प्रकाशित ज्ञान को शरीर या वचन द्वारा उसको गिरा देना, हटा देना, टाल देना सो यह आसादन है छूटा है उपघात—अभिप्राय मलिन होने से किसी दूसरे के ज्ञान में दूषण लगाना कि उसका ज्ञान किस काम का? वह इस तरह से बोलता ऐसी प्रवृत्ति होती इस तरह के दोष

लगाना यह उपघात कहलाता है और ज्ञानविषयक उपघात करने से ऐसे ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है कि जिससे भविष्यकाल में उसके भी ज्ञान में कोई दूसरा दूषण लगायेगा और यह दुःख मानेगा । यह सब ज्ञानविषयक कारण ज्ञानावरण कर्म के आस्रव कराते हैं । यहां अन्त में दो शब्द दिया है—१-आसादन और २-उपघात, तो आसादन में तो किसी में विद्यमान ज्ञान हो तो उसका विनय प्रसिद्धि प्रशंसा न करके उसका अनादर किया जाता है जब कि उपघात में उसके ज्ञान को अज्ञान ही कह कर, काहे का ज्ञान, सब उल्टा बकबाद आदिक के शब्द से उसको अज्ञान कहकर उस ज्ञान का नाश ही किया जाता है, तो ऐसे कार्यों से, परिणामों से खोटे कर्मों का आस्रव होता है ।

(४३) दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण व सूत्रोक्त तत् शब्द से ज्ञान दर्शन का ग्रहण—जैसे ज्ञान के विषय में कारण कहा गया है यह ही दर्शन के विषय में हो तो वहाँ दर्शनावरण का आस्रव होता है । जैसे कोई दर्शन करने की बात कहे तो उसके प्रति भीतर ही ईर्ष्या के परिणाम बनें, यह प्रदोष है । कोई दर्शन के लिए पूछे कि राजा साहब या महाराज जी वहां हैं क्या? तो नहीं हैं या मुझे नहीं मालूम, ऐसा ही कुछ कह कर उसके दर्शन का लोप कर देना, छुपा देना ऐसी बात सो दर्शननिहव है, किसी को कोई किसी बहाने दर्शन ही न दे, छुप जाये या कुछ बहाना कर दे, न मिलना चाहे तो वह दर्शन मात्सर्य है । किसी के दर्शन में अन्तराय डाल दे, कोई दर्शन करना चाहता है तो कोई ऐसी अड़चन डाल दे कि दर्शन न कर सके यह अंतराय है । या कोई दूसरा दर्शन दे रहा हो तो उसे शरीर वचन आदिक की चेष्टाओं से रोक देवे, मना कर देवे, यह आसादन दोष है । या किसी के विषय में दूषण लगाये, उसका क्या दर्शन करना, उसका तो यों आचरण है, यह उपघात है, तो ऐसा दर्शन के विषयमें प्रदोष आदिक करने से दर्शनावरण का आस्रव होता है जिससे भविष्य में यह भी किसी अच्छे पुरुष का, तत्त्व का दर्शन न कर सकेगा । इस सूत्र में जो तत् शब्द दिया है उससे ज्ञान और दर्शन का निर्देश होता है अर्थात् ज्ञान के और दर्शन के विषय में कारण प्रदोष निहव आदि होना ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव का कारण होता है । यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि तत् शब्द से ज्ञान और दर्शन को ग्रहण कैसे कर लिया गया है? तो उत्तर यह है कि जब ज्ञानावरण और दर्शनावरण का आस्रव बताया गया है तो तत् शब्द से अन्य और कुछ ग्रहण कैसे हो सकता? ज्ञान और दर्शन के आवरण की बात है तो ज्ञान और दर्शन का ही विषय बनेगा ।

(४४) ज्ञानावरण दर्शनावरण के आस्रवों के कारण एक होने से ज्ञानावरण व दर्शनावरण में एकत्व के प्रसंग की आशंका व उसका समाधान—अब यहाँ एक शङ्का होती है जब ज्ञानावरण और दर्शनावरण के एक समान आस्रवकारण हैं याने प्रदोष निहव आदिक ये ही तो ज्ञानावरण कर्म के आस्रवभूत कारण हैं और ये ही दर्शनावरण के हैं । तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण में एकता आ जायेगी, क्योंकि जिसके कारण एक होते हैं यह चीज भी एक हो जाती है । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यह कथन युक्त नहीं है, इसमें तो बड़ा विरोध बनता है । जैसे बताओ जितने भी शब्द निकलते हैं वे कंठ ओंठ आदिक से ही तो निकलते हैं, चाहे कोई बोले । तो जब वचनों का कारण एक ही रहा कंठ ओंठ आदिक सभी मनुष्यों के तो वे वचन यदि किसी पक्ष के साधक

हैं तो सबके लिए साधक कहलाये, यदि बाधक हैं तो सबके लिए बाधक कहलायें । जब यह मान रहे हो कि एक समान कारण होवे तो कार्य एक समान होता है तो वचनों का कारण एक समान है, तो वचन भी एक समान हो जाना चाहिए जैसे कोई जीव का निषेध करता है तो शब्द तो वे ही हैं तो सब कोई निषेध मान लेंगे । ऐसे ही वचन अगर साधक हैं तो सबके लिए साधक बन जायेगे सबका साधक बन जाये फिर वादविवाद क्यों होता? एक समाधानकर्ता एक खण्डनकर्ता, ऐसा क्यों होता, क्योंकि वचन तो एक हो गए क्योंकि उनका कारण एक है । यदि यह कहा जाये कि भले ही वचनों का कारण एक समान है तो भी कोई वचन अपने पक्ष के साधक ही होते और कोई वचन परपक्ष के निषेधक ही होते । उन वचनों में किसी में साधकपना है किसी में दूषकपना है, इसलिए वचन एक नहीं हो सकता । तब उत्तर यह है कि यह तो स्ववचन विरोध हो गया । अभी तो कह रहे थे कि जिसका एक समान कारण होता है वह कार्य सब एक हो जाता है और प्रकृत में ज्ञानावरण और दर्शनावरण के लिए कह रहे हैं, पर वह कुञ्जी अब गलत हो गई ना, स्ववचन विरोध हो गया तो यह बात युक्त न रही कि जिसके कारण एक हैं वे कार्य एक समान कहलाते हैं, और फिर प्रत्यक्ष व आगम से भी बाधा आती है । जो लोग यह कहते हैं कि जिसका कारण एक समान है, वह कार्य भी एक समान है इस बात में प्रत्यक्ष से भी बाधा है और आगम से भी बाधा है, प्रत्यक्ष में देखते हैं कि घड़ा, सकोरा, गगरी, सुराही आदिक सब एक मृत्पिण्ड से बनते हैं, मिट्टी से बनते । वही कुम्हार बैठा है, चक्र दंड भी वही है तो जब एक समान कारण मिल गए तब तो ये घड़ा सकोरा, गगरी आदिक भिन्न-भिन्न कार्य क्यों बने? इन्हें न बनना चाहिए । तो प्रत्यक्ष में बाधा आती आगम की बाधा सभी के यहाँ है, सांख्य लोग महान् अहंकार शरीर विकार आदिक सबका प्रधान कारण एक मानते हैं, तो जब एक ही कारण प्रधान है तो उसके कार्य सब समान होने चाहिएँ, पर वे भी अनेक तरह के कार्य मानते । बौद्ध लोग पुण्य अपुण्य संसार आदिक का कारण एक मानते हैं अविद्या, तो जब कारण एक है अविद्या तो वे कार्य अनेक क्यों हो गए? वहाँ भी यह बात मानी गई कि भले ही कारण एक हो फिर भी कार्य अनेक प्रकार के होते हैं । नैयायिक लोग अर्थ नेत्र आदिक का सन्निकर्ष मानते हैं इसलिए सन्निकर्ष तो सन्निकर्ष ही है, एक प्रकार का कारण है, पर उससे भिन्न कार्य क्यों हुए? वे भिन्न कार्य मानते । रूप का ज्ञान, रस का ज्ञान, सुख होना, दुःख होना, अनेक प्रकार के कार्य होते, तो उनको भी वह इष्ट न रहा कि समान कारण हों तो कार्य समान ही होते हैं ।

(४५) ज्ञानावरण व दर्शनावरण के आस्रवों के कारणों का एक समान कहे जाने का कारण—अब एक जिज्ञासा होती है कि तब फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव समान ही क्यों कहे गए ? उसका उत्तर यह है कि जब इन दोनों आवरणों का पूर्ण क्षय हो जाता है तो केवली भगवान में एक साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन का विकास हो जाता है । जैसे सूर्य में प्रताप और प्रकाश ये दोनों एक साथ रहते हैं इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन का जब विकास होता है तो एक साथ ही विकास होता है । इस कारण पहिले याने सावरणदशा में इनके आस्रव एक समान ही रहे, किन्तु जो आवरणसहित ज्ञान है वहां ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति क्रम से होती है । जैसे जो जल गर्म हो गया है याने जल के साथ अग्नि का समवाय बनाते हैं तो जल में प्रताप तो

है, गर्मी तो है, पर प्रकाश नहीं है। और जैसे दीपक के प्रकाश में प्रकाश तो है, किन्तु प्रताप नहीं है ऐसे ही जो साधारण लोग होते हैं छद्मस्थ जीव होते हैं उनके जिस समय ज्ञानोपयोग होता है उस समय दर्शनोपयोग नहीं और जिस समय दर्शनोपयोग होता है उस समय ज्ञानोपयोग नहीं।

(४६) प्रभु की त्रिकालदर्शिता की मीमांसा—यहां एक आशंका होती है कि जो पदार्थ अतीत हो चुके याने जो पर्याय गुजर चुकी और जो पर्याय अनागत है आगामी काल में होगी उनके विषय में दर्शन किस तरह से हो जायेगा? दर्शन तो सामने वर्तमान रहने वाले पदार्थ का हुआ करता। जो घटना गुजर चुकी, जो घटनायें अभी नहीं आयीं, भविष्य में आयेगी उनके विषय में दर्शन कैसे बनेगा, क्योंकि दर्शन का लक्षण घटित नहीं होता। दर्शन का दर्शन तो छुवे हुए विषय से हुआ करता है और ज्ञान बिना छुवे अविषय में हुआ करता है, पर जो अतीत है वह तो नष्ट हो चुका, जो अनागत है, भविष्य का है। वह अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ तो यों दोनों ही असत् हैं, न अतीत की अब सत्ता है और न भविष्य की अब सत्ता है। तो उनका छूना और उनका विषय होना यह कैसे बन सकता है? और जब अतीत और भविष्य का स्पर्श व विषय न हुआ तो यों ही कह लीजिए कि ज्ञान ही दर्शन कहलाया, फिर केवली भगवान को त्रिकालदर्शी कैसे कहा गया है? यदि दर्शन की बात कहना है तो उन्हें वर्तमानदर्शी कहना चाहिए। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जो यह बताया गया है कि दर्शन छुवे हुए पदार्थ का होता है यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रभु का ज्ञान निरावरण होता है और निरावरण होने पर वहां ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। जैसे कोई सूर्य मेघपटल के बीच आया है तो उसका प्रकाश और प्रताप कम हो जाता है और जब मेघपटल हट गए तब सूर्य का प्रकाश और प्रताप दोनों एक जगह हो जाते हैं। जहां प्रताप है वहां ही प्रकाश है। तो इसी तरह से केवलज्ञानरूपी सूर्य जब तक आवरण में था तब तक अनेक दशायें चलती थीं, किन्तु जब आवरण हट गया तो प्रभु के अचिन्त्य माहात्म्य और विभूतिविशेष प्रकट हो गया फिर उनका जहां ज्ञान है वहां दर्शन अवश्य है। और जहां दर्शन है वहां ज्ञान भी अवश्य है। और भी सुनो यह तो माना ही जा रहा है शङ्काकार के द्वारा कि केवली भगवान असद्भूत को जानते हैं याने जो पर्याय गुजर गई है, जो पर्याय आगे होगी उसको जान लेते हैं और बिना उपदेश किए हुए को जान लेते हैं, तो ऐसे ही हम पूछते हैं कि असद्भूत को और अनुपदिष्ट को भगवान देख लें तो इसमें कौन सी बाधा आती है? और भी सुनो जैसे न छुवे हुए अविषयभूत पदार्थ में बिना उपदेशके छद्मस्थ को ज्ञान नहीं हो पाता, जिसके ज्ञानावरण लगा है, दर्शनावरण भी लगा है वह बिना छुवे को बिना उपदेश के नहीं जान सकता। क्या इसी तरह केवली के बारे में भी आपकी मान्यता है कि वे भी अस्पृष्ट को नहीं जान सकते? यदि कहो कि केवली भगवान के विषय में ऐसी मान्यता नहीं है अर्थात् वह सबको जान लेता है तो जैसे आवरण सहित जीव को छुए और विषय में दर्शन होता है उस तरह केवली के नहीं माना जा सकता। केवली भगवान तीन काल के पदार्थों को जानने वाले हैं और देखने वाले हैं, हाँ अवधिज्ञान की बात और तरह है। अवधिज्ञानी पुरुष के आवरण हैं तो भी अवधिदर्शनावरण का क्षयोपशम तो निरन्तर निरपेक्ष है सो केवलदर्शन की तरह बिना उपदेश के ही अतीत

और भविष्य के पदार्थों के छूवे बिना भी अवधिदर्शन होता है ।

(४७) **मनःपर्ययदर्शन का उल्लेख न होने का कारण**—यहां एक शंकाकार कहता है कि एक दर्शन मनःपर्ययदर्शन भी, मान लीजिए । जैसे अवधिज्ञानावरण की जोड़ी में अवधिदर्शनावरण माना है ऐसे ही मनःपर्ययज्ञानावरण की जोड़ी में मनःपर्ययदर्शन भी मान लेना चाहिए याने उसी तरह मनःपर्ययज्ञानावरण के साथ मनःपर्ययदर्शनावरण भी बन जाना चाहिए । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि मनःपर्ययदर्शन मानने का कोई कारण नहीं है । मनःपर्ययदर्शनावरण तो है ही, क्योंकि चार ही दर्शनावरण बताये गए हैं । तो जब मनःपर्ययदर्शनावरण नहीं तो उसका क्षयोपशम भी कहां से होगा? फिर क्षयोपशम निमित्तक मनःपर्ययदर्शन होना चाहिए, सो वह कैसे होगा? प्रधान बात यह है कि मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान की तरह अपने आप स्वतंत्रतया अपने आप विषय में नहीं लगता याने अवधिज्ञान तो अपने आप अपनी ही शक्ति से, अपने क्षेत्र के अंदर सब कुछ जान लेता है, पर मनःपर्ययज्ञान जब अपने विषय में अपने मुख से नहीं प्रवर्तता है । तो फिर कैसे बनता है मनःपर्ययज्ञान? दूसरे के मन की प्रणाली से मनःपर्ययज्ञान बनता है । जैसे मन अतीत और भविष्य के पदार्थों का चिंतन करता है, पर देखता नहीं है, ऐसे ही मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्य के पदार्थों को जानता है, पर देखता नहीं है । वर्तमान मन भी विषय विशेष के आकार से जानता है इस कारण मनःपर्ययवृत्ति सामान्यपूर्वक नहीं है । वह दूसरे के मन की प्रणाली से जानता है याने दूसरा पुरुष अपने मनमें क्या-क्या सोच रहा है, क्या सोचेगा उस मनकी प्रणाली जैसी है उसरूप से मनःपर्ययज्ञान जगता है । वह स्वमुख से नहीं जगता । अवधिज्ञान स्वमुख से जगता है । सो वहां अवधिज्ञान स्वमुख से जगता है, तो उसके साथ अवधिदर्शन भी बनता है, पर मनःपर्ययज्ञान अपने आपके मुख से नहीं जगता, इस कारण वहां मनःपर्ययदर्शन नहीं है ।

(४८) **ज्ञानावरण व दर्शनावरण के आस्रव कारणों का विषयभेद से भेद**—एक शंकाकार ने यह कहा था कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव एक ही समान प्रदोष निह्व आदिक हैं सो ज्ञानावरण दर्शनावरण को एक हो जाना चाहिए । ये भिन्न-भिन्न दो क्यों है? उसके विषय में काफी उत्तर दिया गया है । तो भी यहाँ यह और समझ लीजिए कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण भिन्न-भिन्न भी विदित होते हैं और वह भिन्नता विषयभेद से बनी याने ज्ञान के सम्बंध में प्रदोष निह्व हों और दर्शनावरण के विषय में प्रदोष निह्व हो तो विषयभेद से इसमें भी भेद बन गया, तो कारण भी अभी जुदे-सुदे कहलाने लगे । इसलिए ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनोंका एक साथ कहना युक्त बन गया ।

(४९) **ज्ञानावरण व दर्शनावरण के आस्रव के कुछ अन्य विशेष कारणों का प्रतिपादन**—जो ज्ञानावरण दर्शनावरण के आस्रव कहा है सो वह संक्षिप्त है । विशेषता में कुछ ऐसा समझिये कि आचार्य व उपाध्याय के प्रतिकुल चलना यह ज्ञानावरण के आस्रव का कारण है, और भी ज्ञानावरण आस्रव के कारण निरखिये । अकाल में अध्ययन करना, जैसे जब सूर्य चंद्र ग्रहण हों, सबमें खलबली मच रही है और ऐसे काल में अध्ययन करे तो वह अकाल अध्ययन हे अथवा जैसे अपने संघके नायक प्रमुख जा रहे हैं बाहर, अथवा कोई बड़े तेजस्वी मुनिराज पधार रहे हैं तो उस समय अध्ययन न करना चाहिए वह उनके प्रति विनयादि का समय है । यदि

कोई उस समय अध्ययन करता है तो वह ज्ञानावरण के आस्रव का कारण है । श्रद्धा न रखते हुए अध्ययन करना, श्रद्धा न रहना यह भी ज्ञानावरण के आस्रव का कारण है । अभ्यास करने में आलस्य रखना, कुछ शिक्षा किसी से ले, पढ़े मगर अभ्यास करने में आलस्य किया तो उससे ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है । अनादर से अर्थ सुनना यह ज्ञानावरण के आस्रव का कारण है । समवशरण में दिव्यध्वनि तो खिर रही है और उस समय में कोई मुनि खुद उपदेश करने लगे, व्याख्या करने लगे तो उसकी इस क्रिया से ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है । जो बहुत ज्ञानी जीव हैं वे अपने ज्ञान का गर्व करने लगे तो उनके ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है । मिथ्या उपदेश देना, बहुश्रुत विद्वान् का अपमान करना, अपने पक्ष का कठिन आग्रह रखना, सूत्रविरुद्ध चलना, असिद्ध से ज्ञान की प्राप्ति सोचना, शास्त्र बेचना, हिंसा आदिक करना ये सब ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं । दर्शनावरण के आस्रव के कारण की बात देखिये—दर्शन में मात्सर्य होना, दर्शन में अन्तराय डालना, किसी की आँख फोड़ना, इन्द्रिय के विपरीत प्रवृत्ति करना, दृष्टि का गर्व करते रहना, दीर्घकाल तक सोते रहना, दिन में सोना, आलस्य रखना, नास्तिक बनना, सम्यग्दृष्टि में दूषण लगाना, खोटे तीर्थ की प्रशंसा करना, हिंसा करना और मुनिजनों के प्रति ग्लानिभाव आदिक करना, ये दर्शनावरण के आस्रव के कारण है।

सूत्र 6-11

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभ्यस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ६-११ ॥

(५०) दुःख शोक ताप की असातावेदनीयास्रवकारणता—स्वयं दुःख करना, शोक करना, ताप करना, आक्रन्दन, वध और परिदेवन तथा दूसरों को दुःख कराना, शोक कराना, संताप कराना, रोना, वध करना, ये सब असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं । जब कोई विरोधी पदार्थ मिल जाये या इष्ट का वियोग हो जाये या अनिष्ट का संयोग हो जाये अथवा कठोर वचन आदिक का प्रयोग बने तो बाह्य कारणों की अपेक्षा तथा अन्तरंग में असाता वेदनीय कर्म का उदय होने से जो जीवों में पीड़ा पहुंचती है उस पीड़ा के परिणाम को दुःख कहते हैं । दुःख का सम्बंध आर्तध्यानसे विशेष है । सो इष्ट वियोग होने पर, अनिष्टसंयोग होने पर, शरीर वेदना होने पर, दूसरों के निष्ठुर कठोर वचन सुनने पर असाता वेदनीय के उदय से जो क्लेश होता है वह दुःख है । सो स्वयं दुःख करना, दूसरे को दुःखी कराना या स्वपर दोनों ही दुःख करना ये सब असातावेदनीय का आस्रव कराते हैं, शोक—जैसे जो पुरुष उपकारक है, बंधु है, बड़ा ध्यान रखने वाला हैं उसका वियोग हो जानेपर बार-बार उसका विचार आने के कारण जो चिन्ता होती है, खेद होता है, विह्वलता होती है वह सब शोक कहलाता है । शोक होने में बाह्य कारण तो बंधुवियोग आदिक है और अन्तरंग कारण मोहनीय कर्मका जो शोक प्रकृति नामक भेद है उसका उदय है, ताप—निन्दा करने वाले, अपमान करने वाले कठोर वचन सुनने पर क्लुषित हृदय के कारण जो भीतर में तीव्र जलन होता है उसे ताप कहते हैं । ताप परिणाम में भीतर ही भीतर विकलता जगती है । भीतर ही भीतर अत्यन्त शोक रहता है । मानो हृदय जलता सा रहता है तो यह परिणाम ताप

कहलाता है । सो खुद ताप करना, दूसरे का कराना और स्वपर दोनों ही करना, ये असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं ।

(५१) आक्रन्दन वध परिदेवन की असद्वेद्यास्रवकारणता—आक्रन्दन—बड़े संताप दुःख शोक आदिक के कारण आंसू गिरने लगे, अंगवियोग होने लगे, माथा धुनने लगे, छाती कूटने लगे, ऐसी क्रियाओं पूर्वक जो वृत्ति है ' उसे आक्रन्दन कहते हैं । जैसे किसी इष्ट पति पुत्रादिक का वियोग होने पर रोना, आंसू गिराना, माथा, फोड़ना, कुछ सूझना भी नहीं, विह्वल होकर रोना यह सब आक्रन्दन कहलाता है, सो ऐसा आक्रन्दन खुद करे, दूसरे से कराये या दोनों करने लगे, उससे असाता वेदनीय का आस्रव होता है । वध—आयु, इन्द्रिय बल और प्राण आदिक का विघात करना वध कहलाता है । सो परिदेवन—अत्यन्त संक्लेश के कारण ऐसा रोना पीटना जिसको सुनकर अपने को या दूसरे को दया आ जाये सो परिदेवन है । ऐसा रोना पीटना खुद करे, दूसरे को कराये या दोनो करने लगे उससे असाता वेदनीय का आस्रव होता है ।

(५२) दुःख की विशेषताओं से असद्वेद्यास्रवकी विशेषतायें—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि दुःख शोक आदिक जितने भी यहाँ शब्द बताये गए हैं वे सब दुःख जाति के ही तो हैं याने सब दुःख रूप हैं । जब सर्व दुःख रूप हैं तो केवल एक दुःख ही शब्द कहते । उनको अलगसे कहने की क्या आवश्यकता थी? वे सब दुःख में ही आ जाते हैं । शोक, ताप ये सब दुःख के ही भेद हैं । इस कारण केवल दुःख शब्द ही कहना चाहिये था, अन्य शब्द न कहना चाहिये था । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि ये सब दुःख ही दुःख हैं मगर उन दुःखों में भी तो विशेषतायें होती हैं । तो कुछ विशेषताओं के सम्बंध से उनकी दुःख जाति होने पर भी उनको बताना पड़ा है । जैसे कोई गाय इतना ही कहे और गाय से कुछ अधिक प्रयोजन न बने, जिसने उसका कुछ विशेष रूप नहीं जाना तो उसको समझाने के लिए यह मुण्डीगाय, सफेदगाय, काली गाय ऐसी बहुत सी बातें कहनी होती हैं तो ऐसे ही दुःख के कारणभूत असंख्यात प्रकार के आस्रव होते हैं और उन असंख्यात प्रकार के आस्रवों के कारण भी असंख्यात प्रकार के होते हैं । यों दुःख के विशेष तो बहुत हो गए । उन्हें कोई न जाने तो कुछ दुःख जाति के विशेषों को बताकर उनका विवेक कराया जाता है और इसीलिए शोकादिक शब्दों का यहां ग्रहण किया गया है । दूसरी बात यह भी है कि दुःख शोकादिक में परस्पर भेद भी पाया जाता है । जैसे घड़ा सकोरा आदिक मिट्टी से ही बने हुए हैं, उसकी दृष्टि से देखें तो सब मिट्टीरूप हैं, उनमें भिन्नपना नहीं है मगर उनका नियत आकार देखें, उनका उपयोग देखें तो उन पर्यायों की दृष्टि से उन मिट्टी के बर्तनों में परस्पर भिन्नता है । ऐसे ही जो दुःख, शोक, ताप आदिक इस सूत्र में कहे गए हैं सो एक अप्रीति सान्य की दृष्टि से देखें तो चूँकि इन सभी में प्रीति का अभाव है, हर्ष का अभाव है, इस दृष्टि से तो सब दुःख के परिणाम से अभिन्न हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से, उनके स्वरूप की दृष्टि से उन दुःखों में विशेषता है तो उन पर्यायों की दृष्टि से इन सबमें परस्पर भिन्नता पायी जाती है ।

(५३) दुःख शोक आदिका निरुक्त्यर्थ—अब इस सूत्र में जो दुःख आदिक पद दिए गए हैं उनकी निरुक्ति में

अर्थ देखिये यहां सभी शब्द कर्तृसाधन में कर्मसाधन में और भावसाधन में बनते हैं । जैसे आत्मा को दुःखित करना सो दुःख है । आत्मा जिसके द्वारा दुःखी होता है सो दुःख है या दुःख न मात्र दुःख है । इन तीन साधनों में एक आशय के थोड़े भेद होते हैं । तो भी वहां ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, केवल कर्तृसाधन का ही एकान्त किया जाये तो भी नहीं बनता । अन्य साधनों का एकान्त भी नहीं बनता । जब स्वातंत्र्य की विवक्षा है । पर्याय और पर्यायी का जब अभेद दृष्टि में है तो तपे हुए लोहे के पिण्ड की तरह तत्परिणाममय होने से आत्मा ही दुःख रूप होता । इसलिए तो कर्तृसाधन बनता है और जब पर्याय और पर्यायी के भेद की विवक्षा हो तब यह अर्थ बनता है कि जिसके द्वारा या जिसमें आत्मा दुःखी हुआ हो उसे दुःख कहते हैं । यह करणसाधन बन गया सो यह भी अन्य साधनों का निषेध होने पर नहीं बनेगा । और जब केवल वस्तुस्वरूप मात्र का कथन हो तो दुःख न होना दुःख है, इस प्रकार भावसाधन बनता है यह भी अन्य साधनों की अपेक्षा रखता है । जैसे एक दीपक शब्द को लिया—जो प्रकाश करे सो दीपक, यह कर्तृसाधन हो गया । प्रकाश किया जाता है जिसके द्वारा वह दीपक है, यह करण साधन हुआ और प्रकाशनमात्र को दीपक कहते हैं, यह भावसाधन हो गया । अर्थ एक ही है । पर आशय से तीन साधन बन गए । तो जैसे इसमें कोई यह एकान्त कहे कि हम तो सर्वथा कर्तृसाधन रूप ही मानते हैं, मायने जो प्रकाश करे सो दीपक, तो उनमें जब करणपना न रहे कि किसके द्वारा प्रकाश करना और क्रिया की मुख्यता न रहना कि प्रकाशन हो रहा है तो कर्तृसाधन भी टिक नहीं सकता ऐसे ही कोई करण साधन का ही एकान्त करे कि जिसके द्वारा प्रकाश किया जाता है वह दीपक है और कुछ है नहीं कर्ता वगैरह तो करणहार कोई नहीं है तो करणपना कैसे बन गया? तो इसमें किसी का भी एकान्त करने पर यह साधन नहीं बनता है । हाँ जब जिस साधन का प्रयोग होता है वह मुख्य होता है, पर शेष दोनों बातें उसके हृदय में ज्ञात रहती है, क्योंकि वस्तु केवल पर्यायमात्र नहीं है, वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, नित्यानित्यात्मक है ।

(५४) पर्यायमात्र या द्रव्यमात्र वस्तु मानने पर दुःखशोकादि परिणाम की अनुपपत्ति—अगर पर्याय मात्र ही वस्तु माना जाये जो एक समय में जानन बन रहा है वह उतना ही पूर्ण वस्तु है अन्वयीद्रव्य कोई नहीं है, ऐसा आत्मा का अभाव मानने पर कोईसा भी साधन नहीं बन सकता । करणसाधन तो यों न बनेगा कि कर्ता नहीं माना गया । कर्तृसाधन यों नहीं बनेगा कि कारण नहीं माना गया । जब तक स्वातंत्र्य शक्ति वाला अर्थ न माना जाये

तब तक शेष कारक कोई भी प्रयुक्त नहीं हो सकते । जब कोई एक स्वतंत्र वस्तु ही नहीं तो करण, सम्प्रदान किसके लिए लगाये जा रहे हैं । कोई यदि कर्तृसाधन का ही एकान्त करे कि बस यही है, करने वाला है, इतना ही भर माने तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि करण आदिक न मानने पर यह सब कुछ नहीं बन सकता । देखिये अहेतुक क्षायिक में विज्ञान आदिक जब एक साथ उत्पन्न होते हैं, जैसा कि क्षणिकवादियों के मत में माना गया है तो वे एक दूसरे के सहकारी कैसे बन सकते हैं? अतीत और अनागत तो असत् ही है वर्तमान

में, तो उनका वर्तमान के प्रति सहयोग कैसे हो सकता? अर्थात् वस्तु को नित्यानित्यात्मक माने, स्वतंत्र सत्ता वाला माने, त्रैकालिक माने परिणामी माने नहीं तो ये सब परिणमन कैसे हो सकते हैं? यदि एक क्षणिक मात्र ही माना, विज्ञान मात्र ही माना कि बस यही दुःख है जो एक समय में जानन होता है, सो वहां दुःख शोकादिक कैसे हो सकते हैं? शोक तो तब होता है जब पहले किसी दुःख का अनुभव किया हो फिर उसका स्मरण आये । पर जहाँ समयमात्र ही आत्मा है, क्षणिक है वही स्मरण कैसे हो सकता? एक समय में आत्मा उत्पन्न हुआ, उसी में नष्ट हो गया तो वहाँ शोकादिक नहीं बन सकते और ये शोकादिक सब देखे ही जाते हैं । अर्थात् पर्यायवान के बिना पर्यायें नहीं बन सकतीं । जानना आदिक बातें तो मानता रहे और उनके आधारभूत कोई स्थायी आत्मा न माने तो पर्याय कैसे टिक सकता है? इसलिए वस्तु केवल पर्यायमात्र नहीं है । पर्यायमात्र मानने पर दुःख शोक आदिक ये कुछ भी नहीं हो सकते । यदि वस्तु को द्रव्यमात्र ही स्वीकार किया जाये कि वस्तु पूरे द्रव्य ही है, उसमें क्रिया नहीं, गुण नहीं सर्वथा निर्गुण है, निष्क्रिय है तो ऐसा कोई द्रव्य मानने पर, ऐसा आत्मा मानने पर कि जिसमें परिणमन नहीं होता, जिसमें ज्ञान भी नहीं है ऐसा कल्पित आत्मा दुःख सुख आदिक परिणतियों का कर्ता कैसे हो सकता है और जब ज्ञानादिक गुणरहित आत्मा को माना तो वह अचेतन कहलाया । कोई भी अचेतन जैसे प्रधान अचेतन है तो वह दुःख आदिक पर्यायों का कर्ता नहीं हो सकता । अचेतनमें भी अगर दुःख शोक आदिक होने लगे तो फिर चेतन और अचेतन का भेद किस बात से किया जा सकेगा?

(५५) स्वपरोभयस्य दुःखादि का असद्वेद्यास्रवहेतुता—इस सूत्र में जो दुःख आदिक कहे गए हैं ये अपने में होते हैं, दूसरे में होते हैं, दोनों में होते हैं और ये सभी असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं । जब क्रोधादिक के आवेश में रहने वाला जीव अपने में दुःख आदिक उत्पन्न करता है तब वह आत्मस्थ दुःख कहलाता है और जब कोई समर्थ व्यक्ति दूसरे में दुःख आदिक उत्पन्न करता है तो वह परस्थ दुःख कहलाता है, और जब किसी घटना में दोनों ही दुःखी होते हैं तो वह उभयस्थ दुःख कहलाता है । जैसे किसी इष्ट के गुजरने पर कई दिन के बाद भी कोई रिस्तेदार बैठने आता है तो वह रिस्तेदार खुद भी रोने जैसी मुद्रा बनाता है और घर वालों को भी रोना पड़ता है, उस समय दोनों ही रोने लगे एक विषय को लेकर । यह उभयस्थ दुःख कहलाता है या जैसे कोई साहूकार कर्जदार से कर्ज वसूल करने गया तो वहां दोनों ही लड़ते बोलते या कहीं जा रहे हैं या भूख प्यास आदिक के दोनों दुःख सह रहे हैं तो ये उभयस्थ दुःख कहलाते हैं । तो चाहे दुःख आदिक स्व में हों चाहे पर में हों, चाहे दोनों में हों, सबसे असाता वेदनीय का आस्रव होता है ।

(५६) दुःख शोकादि प्रकरण में स्फुट ज्ञातव्य—इस, सूत्र में तीन पद हैं—पूर्व पद में तो आस्रवों के कारणों के नाम दिए हैं, दूसरे पद में स्व पर और दोनों में रहने वाले दुःख आदि का संकेत किया है । तीसरे पद में असातावेदनीय का नाम दिया है कि ये सब असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं । यहाँ वेद्य का अर्थ है अनुभवना, वेदना, चेतना है । यद्यपि वेद्य या वेद्य शब्द चार प्रकार के अर्थ वाली धातु से बनते हैं, विद्ज्ञाने, विदलुट लाभे, विन्तिविचारे और विद्य सद्भावे, पर यहाँ एक चेतन ज्ञान अनुभवन अर्थ को लिए ही धातु लेना है

। इस सूत्र में सर्वप्रथम दुःख शब्द दिया है तो यह दुःख प्रधान है और सभी में दुःख है, उसके बाद जो शोकादिक कहे गए हैं वे सब दुःख के ही विशेष हैं, सो शोकादिक को ग्रहण करना उपलक्षण रूप है और इस दृष्टि से अनेक शब्द और भी ग्रहण किए जा सकते हैं जो कि असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं ।

(५७) असातावेदनीय के अन्य आस्रवहेतुओं का ग्रहण—जैसे अशुभोपयोग करना, किसी व्यक्ति पर कुछ अशुभ आपत्ति लादना असातावेदनीय का आस्रव करना है । दूसरे की निन्दा करना, चुगली करना यह सब असातावेदनीय का आस्रव है । एक दूसरे से संताप उत्पन्न कराना, अंगोपांग का छेदन करना जैसे कि बैलों के नाक आदिक छेदे जाते हैं ये सब असातावेदनीय के आस्रव करने वाले हैं । भेद करना, ताड़ना, किसी को त्रास देना, किसी को डांटना' ये सब असातावेदनीय के आस्रव करने वाले हैं । छीलना, पीटना, बाँधना, किसी को रोकना, मर्दन करना ये सब असातावेदनीय के आस्रव करने वाले हैं । किसी को दबाया, किसी पर बोझा लादा, लज्जित किया ये सब असातावेदनीय के आस्रव करते हैं । दूसरे की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, संक्लेश उत्पन्न करना, जीवन यों ही गंवा देना, ये सब असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं । निर्दय होना, बहुत बड़ा आरम्भ का काम लगा लेना बहुत बड़े परिग्रह का लगाव है, किसी का विश्वासघात करना, किसी को आश्वासन देना, विश्वास देना, पूर्ण रूप से वचन देना, फिर उसे धोखा देना, ये सब असातावेदनीय का आस्रव करते हैं । मायाचारी पाप के कामों से अपनी आजीविका बनाना, बिना प्रयोजन ही कुछ पाप करते रहना, वस्तुओं में विष मिला देना, हिंसा के साधनों को उत्पन्न करना, जैसे बाण बनाना, जाल बनाना, पिंजरा बनाना ये सब असातावेदनीय के आस्रव को किया करते हैं । किसी को जबरदस्ती शस्त्र देना, तुम यह बन्दूक रखो ही, तुम यह तलवार सिर में लटकाओ ही आदिक अनेक ढंगों से किसी के परिणाम बिगाड़ना ये सब असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं ।

(५८) दुःख आदि देने के आशय में असद्वेद्यास्रवहेतुता—अब यहां कोई शंका करता है कि यह बताया गया कि दुःख के कारणों से असातावेदनीय का आस्रव होता है तब आचार्य महाराज या अरहंतदेव ने ऐसा उपदेश क्यों दिया जिससे दुःख हो, जैसे कि नग्न रहना, केश-लोच करना, अनशन आदिक करना, तप आदिक करना, इनसे तो शरीर को कष्ट पहुंचता है, फिर तीर्थंकर महाराज को तो इन बातों का उपदेश न करना चाहिए था । तो इस शंका के समाधान में कहते हैं कि क्लेशभावपूर्वक यदि यह बात कही जाती है तब तो शंका ठीक थी, मगर संसार के दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए उसके उपायभूत रत्नत्रय की साधनों में चलना आवश्यक है और ऐसे जीवों को पूर्व संस्कारवश खोटे भावों के आने के प्रसंग आते हैं, तो उन अशुभ उपयोगों से बचने के लिए इन नग्न आदिक तपों का विधान किया गया है । तो यह तो एक दयावश किया गया है । उनको करुणा उपजी कि ये संसारी जीव संसार में दुःख पा रहे हैं । इन दुःखों से सदा के लिए छुटकारा हो तो जैसे डाक्टर घोड़े का आपरेशन करे, कोई चिकित्सा करे तो देखने में यह लगता कि यह बड़े दुःख का काम है, पर उसके क्रोधादिक भाव न होने से डाक्टर को उस पाप का बंध तो नहीं होता । तो ऐसे ही अनादिकाल के सांसारिक जन्ममरण वेदना को नष्ट करने की इच्छा से तप आदिक उपायों में प्रवृत्ति करने वाले यति के कार्य में चाहे

लोगों को दुःख दिखे मगर वे कार्य पाप के बंधक नहीं हैं, क्योंकि वे क्रोधादिक के कारण नहीं किए जाते । फिर एक बात यह है कि जो संसारी जीव दुःख से दबे हुए हैं उनके मन को जहाँ आराम मिले वही तो सुख कहलाता है । तो उन साधकजनों का अनशन आदिक करने में मन को सुख मिलता है, वह स्वेच्छा से करते हैं इस कारण भी कोई दुःख का प्रसंग नहीं है, अब यहाँ तक असातावेदनीय के आस्रव के कारण कहकर सातावेदनीय के आस्रव के कारण बतलाते हैं।

सूत्र 6-12

भूतब्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्देद्यस्य ॥ ६-१२ ॥

(५९) भूतानुकम्पा और ब्रत्यानुकम्पा की सद्देद्यास्रवहेतुता—भूतानुकम्पा, ब्रत्यानुकम्पा दान, सरागसंयम आदिक का योग क्षमा, पवित्रता ये सब सातावेदनीय के आस्रव के कारण होते हैं । इसमें १-प्रथम कारण बताया है भूतानुकम्पा । भूतों की अनुकम्पा—अनुकम्पा दया को कहते हैं, किसी दुःखी को देखकर उसके अनुसार दिल कंप जाना सो अनुकम्पा है । भूत कहते हैं प्राणियों को । भूत शब्द बना है भू धातु से, जिसमें अर्थ यह भरा है कि आयु नाम कर्म के उदय से जो उन योनियों में होते हैं। जन्म लेते हैं वे सब प्राणीभूत कहते हैं। सर्व जीवों की दया करना सो भूतानुकम्पा है । इस जीवदया के परिणाम से सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है । जिसके उदयकाल में यह जीव भी साता पायगा । २-दूसरा है ब्रत्यानुकम्पा—ब्रती जनों पर अनुकम्पा होना सो ब्रत्यानुकम्पा है । व्रत हैं ५—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । इन व्रतों का जो सम्बन्ध बनाता है, इन व्रतों का जो पालन करता है वह ब्रती कहलाता है चाहे गृहस्थ हो और चाहे गृहस्थों को छोड़कर निर्ग्रन्थ दिगम्बर हों, उन सब ब्रतियों पर अनुकम्पा होना ब्रत्यानुकम्पा है । यहां एक शंका यह हो सकती है कि जब पहले भूतानुकम्पा कही जिसमें सर्व जीवों की दया आ ही गई तो ब्रती अनुकम्पा का शब्द अलग से करना व्यर्थ है । तो उत्तर इसका यह है कि भले ही सामान्य का निर्देश करने से सर्व विशेष भी आ गए, सब जीवों में ब्रती भी आ गए फिर भी सर्व जीवों की अपेक्षा से ब्रतियों की प्रधानता बतलाने के लिए ब्रत्यानुकम्पा शब्द अलग से कहा गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि जीवों में जो अनुकम्पा की जाती है उसकी अपेक्षा ब्रतियों में अनुकम्पा करना प्रधानभूत है अर्थात् विशिष्ट है, श्रेष्ठ है, तो ऐसा प्रधान बतलाने के लिए ब्रत्यानुकम्पा अलग से कहा है । अनुकम्पा का अर्थ है अनुग्रह से भीगे हुए चित्त में दूसरे की पीड़ा का इस तरह अनुभव करना कि मानो मुझ ही में हो रही है । पीड़ा इस तरह अपने हृदय में पीड़ा करने पर जो अनुकम्पन होता है, दयालु चित्त होता है, उस दुःख की वेदना होने लगती है वह कहलाती है अनुकम्पा । अनुकम्पा शब्द एक है और वह दोनों में लगना है, भूतों में अनुकम्पा और ब्रती जनों में अनुकम्पा । सो पहले भूत और ब्रती इन दो शब्दों का द्वंद्व समास किया गया है । 'भूतानि च ब्रतिनः च इति भूत ब्रतिनः' फिर इसमें तत्पुरुष समास किया गया । 'भूतब्रतिषु अनुकम्पा भूतब्रत्यानुकम्पा' । प्राणी और वृत्तियों में अनुकम्पा होना ।

(६०) दान व सरागसंयम की सद्देद्यास्रवहेतुता—(३) तीसरा कारण बतला रहे हैं दान । दूसरे पर अनुग्रह बुद्धि होनेसे अपने वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है । जैसे किसी प्राणी पर दया आयी अथवा किसी व्रती पर भक्ति उमड़ी तो उनकी सेवा के लिए अपने धन का परित्याग करना यह दान कहलाता है । (४) चौथा कारण बतला रहे हैं सरागसंयम । सराग का अर्थ है रागसहित । पहले उपार्जित किए गए कर्म के उदय से ऐसा संस्कार बना है, अभिप्राय बना है कि कषाय का निवारण नहीं हो सकता । फिर भी जो कषाय निवारण के लिए तैयार है ऐसा पुरुष सराग कहलाता है । यद्यपि सराग शब्द का सीधा अर्थ है रागसहित, किन्तु इसके साथ संयम लगा होने से यह अर्थ ध्वनित हुआ कि यद्यपि राग का निवारण नहीं किया जा सकता फिर भी रागनिवारण के लिए जिसका लक्ष्य बना है, राग दूर करना चाहता है उसे कहते हैं सराग और संयम का अर्थ है प्राणियों की रक्षा करना या इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति न होने देना यह है संयम । भले प्रकार आत्मा में नियंत्रण करने को संयम कहते हैं । सो सराग पुरुषके संयम को सराग संयम कहते हैं अथवा राग सहित संयम को सराग संयम कहते हैं ।

(६१) आदि शब्द से गृहीत अकामनिर्जरा संयमासंयम व बालतप की सद्देद्यास्रवहेतुता—सरागसंयम के बाद आदि शब्द दिया है अर्थात् आदि लगाकर अन्य भी ऐसी ही बात सातावेदनीय के आस्रव का कारण होती है यह जानना । तो उस आदि शब्दसे क्या-क्या ग्रहण करना, उनमें से कुछ का नाम बतलाते हैं कि जैसे (५) अकामनिर्जरा—जीव स्वयं नहीं चाह रहा कि मैं ऐसा तप करूं या ऐसा उपसर्ग अपने पर लूं या दुःख का परिणाम बनाऊँ, फिर भी किसी परतन्त्रता के कारण उपभोग का निरोध होना, ऐसी स्थिति आ जाये तो शान्ति से सह लेना अर्थात् कोई उपद्रव आ जाये, भूखा रहना पड़े, गर्मी सहनी पड़े, कहीं पहुंच रहे, कुछ चाहते भी नहीं है ऐसा क्लेश, पर अगर आ गया है तो उसे शान्ति से सह लेना यह कहलाती है अकामनिर्जरा । (६) एक है संयमासंयम । कुछ निवृत्ति होना, सर्वथा पापसे तो निवृत्ति नहीं है, पर एक देश पापसे हट जाना संयमासंयम कहलाता है । ये सब सातावेदनीय के आस्रव के कारण होते हैं । (७) एक है बालतप—मिथ्यादृष्टि जीवों के जो तप है, जैसे अग्निप्रवेश, पंचाग्नि तप, यह बालतप कहलाता है । ये भी सातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं, मगर हैं ये निकृष्ट कारणभूत । विशिष्ट सातावेदनीय का आस्रव नहीं है साधारणरूप से, क्योंकि उनके अज्ञान छाया है, जानकर समझकर विवेकपूर्वक कोई प्रवृत्ति नहीं है, लेकिन धर्म नाम की श्रद्धा है, मैं धर्म के लिए कर रहा हूं, ऐसी स्थिति में उन मिथ्यादृष्टि जनों का जो तपश्चरण आदिक है वह बालतप कहलाता है ।

(६२) योग क्षान्ति व शौचभाव की सद्देद्यास्रवहेतुता—(८) योग—निर्दोष क्रिया करने का नाम योग है । अर्थात् पूर्व उपयोग से जुट जाना, दूषण से हट जाना । इसके अतिरिक्त (९) क्षमाभाव भी सातावेदनीय के आस्रव का कारण है । शुभ परिणाम से क्रोधादिक हटा देना क्षमा कहलाता है । इस क्षमासे सातावेदनीय का आस्रव होता

जिसके कारण आगे इन कर्मों का उदय होने पर इस जीव को साता मिलेगी । (१०) एक कारण है शौच, पवित्रता—लोभ के प्रकारों से अलग हो जाना शौच है, जिस लोभ के मुख्य तीन प्रकार हैं—अपने द्रव्य का त्याग न कर सकना, दूसरे के द्रव्य का हरण कर लेना, और किसी की धरोहर को हड़प जाना और भी अनेक प्रकार हैं । पर एक व्यवहार में लोभीजनों की जैसी वृत्ति होती है उसके अनुसार कह रहे हैं । एक तो ऐसे लोभी होते जो स्वद्रव्य का त्याग नहीं कर सकते धन खर्च नहीं कर सकते, एक ऐसे लोभी होते हैं कि जो दूसरे के द्रव्य का भी हरण करना चाहते हैं व करते हैं, और एक ऐसे लोभी कि जिनके पास कोई अपनी चीज रख जाये तो उसको हड़पना चाहते और हड़प लेते हैं । इस प्रकार लोभ का परित्याग करना शौच भाव है । ऐसी वृत्ति अर्थात् ऐसे ऐसे अन्य भाव भी साता वेदनीय के आस्रव के कारण हैं ।

(६३) सूत्रोक्त सब परिणामों का समास करके एक पद न करने का कारण एवंविध अन्य भावों का संग्रहण— इस सूत्र में बात दो ही तो कही गई है कि ऐसी ऐसी बातें साता वेदनीय आस्रव के कारण हैं । तो केवल दो ही पद होने चाहिए थे सो उस एक पद को जिसमें सारी घटनायें बतायी हैं आस्रव के कारणभूत उनके लिए तीन पद किए गए हैं और फिर इति शब्द भी लगाया है । उनका समास क्यों नहीं किया गया, समास कर देते तो सूत्र में लघुता आ जाती । यहाँ एक ऐसी शङ्का होती है । उसका उत्तर यह है कि अलग-अलग कुछ पद यों लगाये कि ऐसे अन्य भाव भी संग्रहीत कर लिए जाये मायने इतने भाव तो सूत्र में बताये हैं पर ऐसे ही अन्य भाव हैं जो सातावेदनीय के आस्रव के कारण होते हैं, और इसी प्रकार यह भी प्रश्न हो सकता कि इति शब्द लिखना भी व्यर्थ है । तो एक तो समास न करके अलग-अलग लिखा और एक इति शब्द लिखा तो यह कुछ अनर्थक सा होकर सार्थकता को घोषित करता है । अर्थात् अन्य का भी संग्रह करना । वह अन्य क्या-क्या है जिसका यहां संग्रह किया जाना चाहिए । तो सुनो—अरहंत प्रभु की पूजा, यह परिणाम साता वेदनीय के आस्रव का कारण है । वयोवृद्ध तपस्वीजनों की सेवा यह परिणाम साता वेदनीय के आस्रव का कारण है । छल कपट न होना, सरलता बनी रहना, किसी को लोंधा पट्टी की बात न कहना ऐसी स्वच्छता साता वेदनीय के आस्रव का कारणभूत है । ऐसे ही विनयसम्पन्नता पर जीवों का आदर करना सबके लिए विनयशील रहना यह भी साता वेदनीय के आस्रव का कारण है ।

(६४) नित्यत्व या अनित्यत्व के एकान्त में परिणामों की अनुपपत्ति—यहां एक दार्शनिक बात समझना कि जीव को जो लोग सर्वथा नित्य मानते हैं, उनके ये बातें घटित नहीं हो सकती याने दया करना, दान करना, संयम पालना आदिक बातें जीव को सर्वथा नित्य मानने वाले में घटित नहीं हो सकती और आत्मा से सर्वथा भिन्न, क्षणिक मानने में भी ये सब घटित नहीं हो सकते । जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य है पर्यायदृष्टि से अनित्य है । ऐसा जीव का स्वभाव है । बना रहता है और परिणमता रहता है । तो ऐसे जीव के अनुकंपा आदिक परिणाम विशेष होते हैं । पर केवल नित्य हो तो परिणति ही नहीं, दया आदिक कहाँ से हो सके? एक अनित्य हो । एक समय को ही आत्मा है फिर नहीं है तो वहाँ करुणा, दान आदिक कैसे सम्भव हो सकते? सर्वथा नित्य मानने वालों के यहां तो विकार माना ही नहीं गया, उनमें कुछ बदल परिणमन जब नहीं माना गया तो दया

आदिक कैसे हो सकते? और यदि दया आदिक मान लिये जायें तो वे सर्वथा नित्य कहां रहे? इसी तरह जो क्षणिक एकान्त का सिद्धान्त मानते हैं तो उनका ज्ञान तो क्षणिक रहा और दया आदिक तब ही बनते जब पहली और उत्तर पर्याय का घटना का ग्रहण किया जाये। सो यह बात क्षणिक में कैसे बनेगी सो अनुकम्पा भी नहीं बन सकती। इससे जीव नित्यानित्यात्मक है तब ही तो वहां अनुकम्पा आदिक के परिणाम बनते हैं। इस प्रकार सातावेदनीय के आस्रव के कारण बताये। अब इसके अनन्तर मोहनीय कर्म का नंबर है जैसा कि सूत्र में ही क्रम दिया जायेगा। सो मोहनीय के दो भेद हैं—१-दर्शनमोहनीय और २-चारित्रमोहनीय जो आत्मा के सम्यक्त्वगुण को प्रकट न होने दे वह है दर्शनमोहनीय और जो आत्मा में चारित्रगुण को न प्रकट कर सके सो है चारित्रमोहनीय। तो उसमें दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण बताये जा रहे हैं।

सूत्र 6-13

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥६-१३॥

(६५) प्रभु श्रुत मुनि धर्म व सुर के अवर्णवाद में दर्शनमोह के आस्रव की हेतुता—केवली भगवान का अवर्णवाद, श्रुत याने शास्त्र आगम का अवर्णवाद, संघ अर्थात् मुनिजनों का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद, देव का अवर्णवाद, ये दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण होते हैं। अवर्णवाद का अर्थ है कि जैसा स्वरूप है वैसा न वाद अर्थात् न कहना उल्टा कहना सो यह है अवर्णवाद। केवली भगवान किसका नाम है? जो इन्द्रिय के क्रम और व्यवधान का उल्लंघन कर ज्ञान से सहित है वह केवली प्रभु हैं याने चक्षु आदिक हुए करण और कुछ काल जाने, कुछ काल न जाने या बाहरी भीत आदिक से आवरण हटना यह कहलाता है व्यवधान तो इन्द्रिय से जानने का क्रम भी नहीं है जहां और किसी चीज की आड़ भी नहीं है जहां, ऐसा जो स्वाभाविक ज्ञान है जो ज्ञानावरण के पूर्ण नष्ट होने पर प्रकट होता है। ऐसा जो स्वाभाविक ज्ञान है वह जिनके पाया जाये उन्हें कहते हैं अरहंत भगवान। श्रुत किसे कहते हैं? उन अरहंत भगवन्तों के द्वारा उपदेश किए गए जो वचन हैं वे श्रुत कहलाते हैं। राग द्वेष मोह से जो दूर हो गए उनके द्वारा कहे हुए वचन ही आगम हैं। जो रागद्वेष मोह से दूर नहीं हैं उनके वचन कैसे पूर्ण सत्य हो सकते? मूलभूत कैसे हो सकते कि जिसके आधार पर सर्व जिनागम के वचनों का स्पष्ट भाव लाया जा सकता। तो रागद्वेष मोह से रहित प्रभु के द्वारा उपदिष्ट आगम श्रुत कहलाता है और उस श्रुत को धारण किसने किया? उसे धारण किया है गणधरों ने। उसका अर्थ मन में ठीक समझा है तो बुद्धि ऋद्धि रखने वाले गणधर देवों का वह श्रुत कहलाता है। संघ क्या कहलाता है? सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र से युक्त चारों प्रकार के मुनियों का जो समुदाय है वह संघ संघ कहलाता है। यहां एक जिज्ञासा हो सकती है कि तब फिर एक ही मुनि हो तो, उसका नाम छूट गया, संघ में वह तो न आ पाया, सो ऐसी शङ्का यों न करना कि एक भी मुनि हो वह भी संघ कहलाता है, क्योंकि अनेक व्रत गुणों का संघ यहाँ पाया जाता है। धर्म क्या कहलाता है? अहिंसाभाव जो जिनागम में कहा है वह धर्म कहलाता है और देव कहलाते हैं देवगति के जीव इन सबका अवर्णवाद करना अर्थात् निन्दा करना ये दर्शन मोहनीय कर्म

के आस्रव के कारण हैं जिससे कि आगे सम्यक्त्व में बाधा आती रहेगी ।

(६६) अज्ञानियों द्वारा केवली आदि के विषय में किये जाने वाले अवर्णवादों का चित्रण—अवर्णवाद का भाव है । जो गुणवान पुरुष हैं, महान संत है उनमें अपनी बुद्धि की मलिनता के कारण न भी कोई दोष हों उनमें तो भी उन दोषों का कहना इसे अवर्णवाद कहते हैं । तो केवली आदिक के विषय में अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण है । केवली भगवान का अवर्णवाद अज्ञानीजन किस प्रकार करते हैं? ये केवली भोजन करके जिन्दा रहते हैं, हम लोगों जैसा पिण्ड का आहार करके ही जीवित रहा करते हैं, कम्बल आदिक धारण करते हैं, तूमड़ी का पात्र रखते हैं, केवली प्रभु के भी ज्ञान और दर्शन क्रम से होते हैं, आदिक अवर्ण अस्वरूप बोलना यह केवली का अवर्णवाद है । आगम का अवर्णवाद क्या है? यह बताना कि शास्त्रों में, आगम में भी मद्य मांस का भक्षण लिखा है, शराब का पीना बताया है । कोई पुरुष काम से पीड़ित हो तो उसे प्रेमदान देना बताया है । रात्रि भोजन आदिक में कुछ दोष नहीं है, इस प्रकार शास्त्र का नाम लेकर कहना यह श्रुत का अवर्णवाद है । संघ का अवर्णवाद—ये मुनि श्रमण अपवित्र हैं, शूद्र हैं, स्नान न करने से ये मलिन शरीर वाले हैं, दिग्म्बर हैं, निर्लज्ज हैं, ये इस लोक में ही दुःखी हैं, परलोक भी इनका नष्ट है आदि रूप से मुनि जनों की निन्दा करना, उन्हें अस्वरूप कहना यह संघ का अवर्णवाद है । धर्म का अवर्णवाद—जिनेन्द्रभगवान ने जो धर्म बताया है वह निर्गुण है, उसमें कुछ महत्त्व नहीं है, इस धर्म के धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं आदिक रूप से धर्म का अवर्णवाद करना यह दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण है । देवों का अवर्णवाद—देवगति के जीवों के लिए बताना कि ये मद्य मांस का सेवन करते हैं, ये अहिल्या आदिक में आसक्त हुए थे आदिक रूप से देवों का खोटा स्वरूप कहना यह देवों का अवर्णवाद है । ऐसे ही ये सब अवर्णवाद दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण होते हैं । अब चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण क्या-क्या हैं, यह बतलाते हैं—

सूत्र 6-14

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ ६-१४ ॥

(६७) चारित्रमोह के आस्रवके कारणों का दिग्दर्शन—कषाय के उदयसे तीव्र बुरे परिणाम होना चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण है । जो कषायकर्म पहले बांध रखे थे उनके द्रव्य, क्षेत्र आदिक का निमित्त पाकर उदय होता है वह फल दे लेता है, इसका नाम है उदय । सो ऐसे कषायों के तीव्र उदय से जो संक्लेश परिणाम होते हैं उनसे ऐसे कर्मों का आस्रव होता, बंध होता कि जिसके उदय में आगे भी चारित्रहीन दुःखी रहता है । अब कुछ चारित्रमोहनीय के अलग-अलग विशेषों के कारण बताते हैं, चारित्रमोहनीय दो रूपों में बंटा हुआ है—१-कषायमोहनीय और २-नोकषायमोहनीय । फिर नोकषायमोहनीय हास्य रति आदिक अनेक रूपों में बंटे हैं । तो पहले कषायमोहनीय आस्रव के कुछ कारण विशेष बतलाते हैं ।

(६८) कषायमोहनीय नामक चारित्रमोहनीयकर्म के आस्रव के कारणों का संक्षिप्त प्रपञ्च—जो तपस्वी जगत का उपकार करने वाले हैं, उत्तम शीलव्रत का पालन करते हैं उन तपस्वियों की निन्दा करना चारित्रमोह के आस्रव

का हेतु है। धर्म का ध्वंस करना, कोई धार्मिक प्रोग्राम होते हों उनको बिगाड़ना अथवा अपना परिणाम ऐसा कायर और क्रूर करना कि जिससे आत्मधर्म का घात होता हो, ऐसे कार्यों से कषाय मोहनीय का आस्रव होता है। धार्मिक कार्यों में अन्तराय डालना, दूसरों की धर्मसाधना में अन्तराय डालना, सामूहिक धार्मिक कार्यों में विघ्न करना, अपने आपमें धर्मपरिणाम होने के प्रति प्रमाद रखना याने अपने धर्म का भी अन्तराय करना, इसमें कषाय प्रवृत्तियों का आस्रव होता है। कोई पुरुष शील गुणवान हो, देशसंयमी हो, महाव्रत का पालन करने वाला हो तो उसको ऐसे वचन बोलना, उसके प्रति ऐसा परिणाम बनाना कि वह अपने संयम से च्युत हो जाये तो यह क्रिया कषाय प्रकृतियों का आस्रव करती है। जो जीव मद्य मांस आदिक के त्यागी हैं उनको ऐसे वचन कहना, ऐसा ही वातावरण बनाना कि वे अपने संकल्प से हट जायें, पिचक जायें, अपने नियम में ढील करने लगें, ऐसी कोशिश वाले परिणामोंसे कषाय प्रकृतियों का आस्रव होता है। कोई पुरुष निर्दोष चारित्र वाला है तो भी उसमें दूषण लगाना, उनके दोषों को प्रकट करना ये कषायप्रकृतियों का आस्रव करते हैं। स्वयं ऐसे भेषों को धारण करे, जो संक्लेश को उत्पन्न कराये तो यह क्रिया, ऐसे परिणाम कषायप्रकृतियों का आस्रव करते हैं। खुद कषाय करना, दूसरे में कषाय उत्पन्न कराना, ऐसा कषाय के जागरण का जितना परिणाम है, व्यवहार है वह सब कषायप्रकृतियों का आस्रव कराता है।

(६९) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नोकषायमोहनीयनामक चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रवों के कारणों का प्रयत्न—अब हास्य वेदनीय नामक नोकषायकर्मप्रकृतियों के आस्रव के हेतु सुनो—किसी का विशेष मजाक करना, दिल्लगी करना, जिससे वह दुःखी होवे और यह खुद उसका मौज लेवे तो ऐसे उत्प्राहास से हास्य प्रकृति का आस्रव होता है। हीनता पूर्वक हंसना या कामविकारपूर्वक हंसना, इस प्रकार की बनावटी, विकृत हंसी का भाव हास्य प्रकृति का आस्रव करता है। बहुत बोलना जिस प्रलाप से स्वयं का सामर्थ्य भी बिगड़े, दूसरों को भी बुरा लगे, अट्ट-सट्ट वचन भी निकल जाये ऐसा प्रलाप करना जिसकी चाहे हंसी मजाक करना, ऐसी चेष्टायें ऐसे परिणाम हास्य प्रकृति का आस्रव करते हैं। नाना प्रकार के पर के साथ क्रीड़ा करना दूसरों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करना, ऐसे कार्यों में रति प्रकृति का आस्रव होता है, दूसरे को अप्रेम, द्वेष उत्पन्न कराना प्रीति का विनाश करना, पापशील पुरुषों का संसर्ग करना, खोटी क्रियाओं में, पाप व्यसन आदिक को उत्साह दिलाना, उत्साह रखना, ऐसे भावों से अरतिप्रकृति का आस्रव होता है स्वयं शोक करना, प्रीति के लिए दूसरे का शोक करना, दूसरे पुरुषों को दुःख उत्पन्न कराना, जो शोकसे व्याप्त हो उसे देखकर खुश होना, इस भाव से शोक प्रकृति का आस्रव होता है, जिसके उदय में इस, जीव को स्वयं अनेक शोक उत्पन्न होने लगते हैं। खुद भयभीत रहना, दूसरों को भय उत्पन्न करना, निर्दयता के परिणाम रखना, दूसरे को त्रास देना, ऐसे परिणामों से भय प्रकृति का आस्रव होता है, जिसके उदय में स्वयं यह बहुत भयशील रहेगा। जो धर्मात्मा पुरुष हैं, जो उत्तम लोग हैं उनकी क्रियाओं में, कुल में, आचरण में ग्लानि करना। ऐसा आचरण करने वाले पुरुषों से घृणा करना यह जुगुप्सा

प्रकृति के आस्रव कराने वाला भाव है। जुगुप्सा की प्रकृति रखने वाले पुरुष दूसरे की बदनामी करने की प्रकृति वाले हो जाते हैं और यही एक घृणा की बात है। तो ऐसे पाप परिणाम वाले पुरुष जुगुप्सा प्रकृति का आस्रव करते हैं।

(७०) स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद नोकषायमोहनीय नामक चारित्र मोहनीयकर्म के आस्रव के कारणों का प्रपञ्च— अब स्त्रीवेद के आस्रव के कारण कहते हैं, अत्यन्त क्रोध के परिणाम होना, बहुत अधिक भीतर घमंड रहना, दूसरों से बहुत बड़ी ईर्ष्यायें रखना मिथ्या वचन बोलते रहना, छल कपट करना, जालसाजी छल कपट में प्रपंच में अपना दिल बनाये रहना, बहुत तीव्र राग करना, दूसरे की स्त्री के साथ काम सेवन करना, स्त्री जैसे परिणामों में प्रीति रखना, ऐसे भाव स्त्रीवेद प्रकृति का आस्रव करते हैं, जिसके उदय में वे जीव भी स्वयं ऐसा ही आचरण करने लगते हैं जैसे ईर्ष्या करना, मिथ्यावचन बोलना, घमंड होना, क्रोधविशेष आने लगना, ऐसा दुःख पाते हैं और स्त्री पर्याय मिलती है। पुरुषवेद के आस्रव के कारण हैं साधारण क्रोध होना, मायाचारी न होना, घमंड न होना, लोभरहित वृत्ति होना, अल्पज्ञान होना, अपनी स्त्री में ही संतोष होना, ईर्ष्या न होना, स्नान आभरण आदिक के प्रति आदर न होना, ऐसी चेष्टायें, ऐसा परिणाम पुरुषवेद प्रकृति का आस्रव कराता है। अब नपुंसकवेद के आस्रव के हेतु बतलाते हैं तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ होना, गुप्त इन्द्रिय का विनाश करना, जैसे इन्द्रिय का आपरेशन, बैल आदिक का बधिया करना, स्त्री पुरुषों की अनंग क्रीड़ा का विनाश करना, जिन अंगों से क्रोड़ा न की जाये उनसे भी तीव्र क्रीड़ा करने की आदत बनाना। शीलव्रतधारी पुरुषों को बिचकाना उत्साहहीन करना, दीक्षाधारी पुरुषों को बिचकाना, उनका उत्साह भंग करना, दूसरे की स्त्री पर आक्रमण करना, तीव्र प्रीति होना, आचरणहीन हो जाना, ये सब परिणाम नपुंसकवेद का आस्रव कराते हैं। अब मोहनीय कर्म के आश्रवों के हेतुओं को बताकर क्रम प्राप्त आयुर्कर्म का वर्णन करेंगे, जिसमें सर्वप्रथम नरक आयु के आस्रव का कारण बतलाते हैं।

सूत्र 6-15

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ ६-१५ ॥

(७१) नरकायु के आस्रवों के कारणों का दिग्दर्शन—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना नरकायु के आस्रव का कारण है, यहां बहु शब्द का प्रयोग संख्या अर्थ में भी होता है और विपुलता अर्थ में भी होता है। बहु शब्द अनेक जगह संख्या के विषय में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—एक, दो, बहुत, और बहु शब्द विपुल परिमाण में भी आया करते हैं, जैसे बहुत भात, बहुत दाल आदि को तो यहां दोनों प्रकारके "बहु" का ग्रहण है अर्थात् विशाल, विपुल, आरम्भ होना और अनेक आरम्भ होना नरकायु के आस्रव का कारण है। इसी प्रकार बहुत व विपुल परिग्रह होना। आरम्भ का अर्थ है हिंसा वाला कार्य जो हिंसा की प्रकृति रखता है उसे हिंस्र कहते हैं और उसके काम को हैन्स्र अर्थात् आरम्भ कहते हैं। बहुत आरम्भ जिसके हो वह पुरुष नरकायु का आस्रव करता है। परिग्रह का अर्थ है यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूं, इस प्रकार का परिणाम का अभिमान का

संकल्प होना परिग्रह है। बहुत आरम्भ बहुत परिग्रह जिसके होता है उसका यह परिणाम नरकायु का आस्रव कराता है। इस परिणाम को कुछ विशेष स्पष्ट करते हैं और जो कुछ ऐसे ही अन्य परिणाम हैं उनको भी बताते हैं।

(७२) नरकायु के आस्रव के कारणों का संक्षिप्त प्रपञ्च—मिथ्यादर्शन का परिणाम नरकायु का आस्रव कराता है। जहां स्वपर का यथार्थ बोध नहीं है, परपदार्थों से अपना स्वरूप समझते हैं, अपने प्राण समझते हैं, ऐसे अज्ञान अंधेरे वाले पुरुष नरकायु का आस्रव करते हैं। अशिष्ट आचरण जो असभ्य आचरण है, जो लोक व्यवहार में उचित नहीं है ऐसी प्रक्रिया करना बहुत अधिक मान रखना, पत्थर की रेखा के समान क्रोध भाव करना, जैसे पत्थर की रेखा अनेकों वर्षों तक नहीं मिटती ऐसे ही जिसका क्रोध अनेकों वर्षों तक न मिटे, उसकी

वासना बनी रहे, ऐसा क्रोध, तीव्र लोभ का परिणाम, दयारहित परिणाम, क्रूरता ये सब परिणाम नरकायु का आस्रव कराते हैं। दूसरे दुःखी हो तो उसमें खुश होना, दूसरों के परिताप आदि में खुश होना, जैसे अनेक लोग मनुष्यों को तंगते हैं या चूहा पक्षी आदि को बांधकर उनको सताने में खुश होते हैं ये सब नरकायु का आस्रव कराने वाले भाव हैं। दूसरे को मारने का अभिप्राय करना, जीवों की सतत हिंसा करना, झूठ बोलने की प्रकृति रखना, दूसरे का धन हरण कर लेना, छुपे-छुपे राग भरी चेष्टायें करना, मैथुन विषयों में प्रवृत्ति रखना ऐसे ये परिणाम नरकायु का आस्रव कराते हैं। महान आरम्भ होना, इन्द्रिय के आधीन बनना, काम भोग की तीव्र अभिलाषा रखना, शील स्वभाव व्रत आदिकसे रहित रहना, पापाजीविका करके भोजन करना, किसी से बैर बांधना, क्रूरता पूर्वक रोना, चिल्लाना, ऐसी चेष्टाओं के परिणाम नरकायु का आस्रव कराते हैं, जिससे नरकायु के उदय होने पर नियम से नरकगति में जन्म लेना पड़ता है और वहां सागरों पर्यन्त ठहरकर कष्ट भोगना पड़ता है। दयारहित स्वभाव होना, साधुसंतों में फूट पैदा कराना, तीर्थकर गुरुजनों की आसादना करना, उनकी मूर्ति का निरादर अथवा उनमें दोषों का लगाना, कृष्ण लेश्यारूप रौद्र परिणाम रखना, क्रूरभाव सहित मरण करना, ये सब नरकायु के आस्रव कराने वाले भाव हैं, अर्थात् ऐसे कार्यों से नरकायु प्रकृति का बंध होता है और उसके उदय में इस जीव को नारकी होना पड़ता है। अब तिर्यञ्चायु के आस्रव का वर्णन करते हैं।

सूत्र 6-16

माया तैर्यग्योनस्य ॥ ६-१६ ॥

(७३) तिर्यगायु के आस्रव के कारणों का प्रकाशन—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो आत्मा का कुटिल स्वभाव है, छल कपट का भाव है उसको माया बोलते हैं। यह माया छल कपट, लोगों को ठगना, तिर्यञ्चायु का आस्रव कराता है। सूत्र में माया एक संक्षिप्त शब्द है और उससे सम्बंधित कैसी-कैसी क्रियायें व परिणाम बन जाते हैं उनका कुछ विस्तार करते हैं। मिथ्यादर्शन सहित अधर्म का उपदेश करना, जिसमें वस्तुस्वरूप उल्टा बताया गया अथवा रागादिक के पोषने की बात बतायी गई, ऐसी अधर्मवृत्ति का उपदेश करना

यह परिणाम तिर्यञ्चायु का आस्रव कराता है । बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना, दूसरों को ठगना, खोटे कार्य करना, खोटे लेख लिखना, अनेक षड्यन्त्र बनाना, पृथ्वी की रेखा के समान क्रोधादिक होना, ये परिणाम तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण हैं । नरकायु में तो पत्थर की रेखा के समान क्रोध कहा था जो सैकड़ों वर्षों तक न मिटे । यहाँ पृथ्वी की रेखा के समान क्रोध कह रहे हैं, जैसे खेतमें हल चलाया जाता तो उससे जो लकीर बन जाती है वह लकीर सैकड़ों वर्षों तक नहीं रहती । साल छह माह भी नहीं टिक पाती, ऐसा क्रोध होना, शीलरहित भाव होना शब्द के संकेत से दूसरों के ठगने का षड्यंत्र बनाना, छल प्रपंच करने की रुचि होना, एक दूसरे की फूट कराकर खुश होना, अनर्थ क्रियायें करना ये सब परिणाम तिर्यञ्चायुकर्म का आस्रव कराते हैं । पदार्थों में विकृति लाने का शौक रहना, वर्ण रस, गंध आदिक एक का दूसरे में मिलावट करना, विकृत करना, उसका शौक करना, मौज बनाना, किसी की जाति में, कुल में शील में दूषण लगाना, विवाद विसंवाद करने की रुचि करना, दूसरे में कैसे ही सद्गुण हों उनका लोप करना, प्रकट न होने देना और दोषादिक के रूप में जाहिर करना, अपने में कोई गुण नहीं है तो भी उन गुणों की प्रसिद्धि करना । अथवा जिससे प्रीति है, अनुराग है उसमें कोई गुण न हो तो भी उसके गुण बखानना । नील लेश्या और कापोत लेश्या जैसे परिणाम होना, आर्तध्यान रखना, मरण के समय में आर्त रौद्र परिणाम होना ये सब परिणाम तिर्यंचायु कर्म का आस्रव कराते हैं ।

अब मनुष्यायु के आस्रव के कारण बतलाते हैं—

सूत्र 6-17

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥६-१७॥

(७४) मनुष्यायु के आस्रवों के कारणों का वर्णन—मनुष्यायु के आस्रव के कारण नरकायु के आस्रव के कारणों से उल्टे हैं । नरकायु के आस्रव के कारण बहुत आरंभ और बहुत परिग्रहपना था, यहां मनुष्यायु के आस्रव के कारण अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहपना बतलाया है । संकेत रूप से कहे गए अल्पारंभ परिग्रह का कुछ विस्तार इस प्रकार से करना, भद्र मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि होने पर भी भद्र परिणाम रहना, विनीत स्वभाव अर्थात् सबके प्रति, धर्म के प्रति विनय का स्वभाव रखना, प्रकृति भद्रता अर्थात् प्रकृति से भद्र अच्छे आशय वाला, सबके कल्याण की भावना रखने वाला होना । मार्दव आर्जव परिणाम, परिणामों में नम्रता और सरलता का होना, ये सब परिणाम मनुष्यायु का आस्रव कराते हैं । सुख समाचार कहने में रुचि होना, जैसे अनेक लोग दुःख के समाचार झट कह डालते हैं, पर मनुष्यायु का आस्रव करने वाले पुरुष की ऐसी आदत नहीं होती । उसे दूसरों से भला व सुखमय समाचार कहने का शौक होता है । रेत में रेखा के समान क्रोधादिक होना, जैसे बालू में, रेत में कोई रेखा खींच दी जाये तो वह अधिक समय तक नहीं रहती ऐसे ही सामान्य क्रोधादिक होना

ये सब मनुष्यायु के आस्रव कराने वाले परिणाम हैं । सरल व्यवहार होना, मायाचाररहित सबको विश्वास उत्पन्न कराने वाला व्यवहार होना, थोड़ा आरम्भ होना, उद्यम आरम्भ के कार्य अति अल्प होना, थोड़ा परिग्रह होना, बाह्य पदार्थों में लगाव कम होना, संतोष में सुखी होना अर्थात् संतोष करने की आदत होना और उस ही में अपने को सुखी अनुभवना ये सब मनुष्यायुकर्म का आस्रव कराने वाले हैं । हिंसा से विरक्त होना, किसी जीव की हिंसा का परिणाम न होना, खोटे कार्यों से अलग रहना, सज्जनों के, महापुरुषों के, बड़ों के स्वागत में तत्पर रहना, कम बोलना, प्रकृति से मधुर होना, सबको प्रिय होना, उदासीन वृत्ति होना, ईर्ष्यारहित परिणाम होना, संक्लेश साधारण व अल्प रहना ये सब परिणाम मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं । गुरु देवता अतिथि की पूजा में शौक होना, दान करने का स्वभाव होना, जैसे कपोत लेश्या के परिणाम होते, पीत लेश्या के परिणाम होते, ऐसा परिणाम होना, मरण समय में धर्मध्यान में प्रवृत्ति होना ये सब परिणाम मनुष्यायु का आस्रव कराते हैं ।

अब मनुष्यायु के आस्रव का अन्य कारण भी कहते हैं—

सूत्र 6-18

स्वभावमार्दवं च ॥ ६-१८ ॥

(७५) मनुष्यायु के आस्रव का व्यापक कारण—उपदेश के बिना स्वभाव से ही परिणामों में कोमलता होना मनुष्यायु का आस्रव कराता है । इस सूत्र से पूर्व सूत्र में भी मनुष्यायु का आस्रव कारण बताया गया, और यहां भी मनुष्यायु के आस्रव में ही सूत्र बताया है । तो ये दोनों सूत्र कहे जा सकते थे, इनको अलग क्यों बनाया गया? इस सूत्र को जो अलग रखा गया उससे एक रहस्य जाहिर होता है कि स्वभाव में मृदुता मनुष्यायु के आस्रव का कारण तो है ही पर देवायु के आस्रव का भी कारण है । तो इस सूत्र का सम्बंध आगे कहे जाने वाले देवायु के आस्रव कारणों के साथ लगता है ।

सूत्र 6-19

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥६-१९ ॥

(७६) शीलव्रतरहित स्थिति के परिणामों के तीन व चारों में से किसी भी आयु के आस्रव की कारणता—शील और व्रत से रहितपना सभी आयु के आस्रवों का कारण है । अर्थात् शील न हो, व्रत न हो तो ऐसी स्थिति में सभी आयु का आश्रय हो सकता है । यहां सभी जीवों को कहा, उससे चारों गतियों के जीव न लेना, किन्तु नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु इन तीन आयु का आस्रव होता है यह लेना, क्योंकि अब तक जितनी आयु बतायी गई हैं उनका ही ग्रहण होगा । यहां यह एक और शंका होती है कि उस सूत्र को भी योग से क्यों कहा? तो अलग से कहने का अर्थ यही है कि यह तीन आयु के लिए कहा गया है । यदि आयु के आस्रव के लिए ही कहा जाता होता तो सर्वेषां शब्द न देना चाहिए था तथा सूत्र भी अलग न बनाया जाना

चाहिए था । तो इस सूत्र का अर्थ तीनों आयु में लगता है । दूसरी बात यह है कि यह सूत्र जो अलग बनाया गया सो उससे देवायु का भी ग्रहण तो किया जा सकता मगर भोगभूमि में रहने वाले मनुष्य तिर्यचों की अपेक्षा अर्थ लगेगा अर्थात् भोगभूमि के तिर्यच और मनुष्यों में शील और व्रत दोनों ही नहीं होते लेकिन वे देवगति में ही जाते हैं, तो उनके देवायु का आस्रव है यह बात दिखाने के लिए सर्वेषां शब्द ग्रहण किया गया है । अब

आयु

के आस्रव का विधान कहने के पश्चात् देवायु का विधान बतलाते हैं ।

सूत्र 6-20

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ ६-२० ॥

(७७) देवायु के आस्रव के कारणों में सराग संयमादि मुख्य कारणों का निर्देश—सरागसंयम, संयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के आस्रव के कारण होते हैं । सरागसंयम का अर्थ है मुनियों का शुभोपयोगरूप चारित्र । ज्ञानसहित संयमको सरागसंयम कहते हैं अथवा रागसहित जीव के संयम को सरागसंयम कहते हैं । अरहंत आदिक में भक्ति जगना, साधर्मी भाइयों में प्रीति जगना, उपवास आदिक में भावना होना ये सब शुभोपयोग कहलाते हैं । तो ऐसे शुभोपयोगियों के संयम सराग संयम कहलाता । तो सराग संयम का पालन देवायु के आस्रव का कारण होता है । जितने भी मुनिजन हैं वे देवायु का ही आस्रव करते हैं अर्थात् मुनिजन या तो मोक्ष जायेंगे या देवगति में उत्पन्न होंगे, पर सच्चा-सच्चा मुनि होता है भावमुनि । मानो किसी पुरुष ने पहले नरकायु, तिर्यचायु व मनुष्यायु का बंध कर लिया तो उसके महाव्रत धारण करने के परिणाम न होंगे । जिसने देवायु का बंध किया हो या किसी भी आयु का बंध न किया हो उसके महाव्रत ग्रहण करने के परिणाम होते हैं । वह महाव्रत ग्रहण करता है । तो जिसने देवायु का बंध किया और मुनि बना उसके तो निश्चित ही हो गया कि वह मरकर देवगति में उत्पन्न होगा, पर जिसके किसी आयु का बंध न था और मुनि हो गया तो मुनि हुए बाद यदि आयु का बंध होता है तो देवायु का ही बंध होता है । तो इस प्रकार सराग संयम देवायु के आस्रव का कारण है । संयमासंयम—श्रावक के व्रतों को संयमासंयम कहते हैं । ऐसा व्रत परिणाम कि जहां कुछ संयम है और कुछ असंयम है । वह संयमासंयम है । संयमासंयम का भी यही नियम है । जिस मनुष्य या तिर्यच ने पहले देवायु का बंध किया हो उसके या जिसने किसी भी आयु का बंध न किया हो उसके संयमासंयम होता है और जिस किसी के संयमासंयम हो गया और किसी भी आयु का बंध नहीं किया तो अब आयु का बंध होगा ही तो वह देवायु का ही बंध होगा । तो इस प्रकार संयमासंयम भी देवायु के आस्रव का कारण है । अकामनिर्जरा कोई दुःख उपस्थित होने पर उसे समता से सहना सो अकाम निर्जरा है । यह अकामनिर्जरा—देवायु के आस्रव का कारण है । बालतप— अज्ञान अवस्था में धार्मिक बुद्धि करके पंचाग्नि आदिक अनेक प्रकार के जो तपश्चरण किए जाते हैं वे बाल तप कहलाते हैं । देवायु के आस्रव के ये कारण सामान्यरूप से कहे गए हैं ।

(७८) सौधर्माद्यायु के आस्रव के कारणों का प्रपञ्च—कुछ विशेष रूप से इस प्रकार समझना कि सौधर्म आदिक स्वर्ग की आयु के आस्रवरूप परिणाम ये हैं । कल्याण चाहने वाले मित्रों का साथ रखना, ऐसे मित्रों का संघ बनाना जो सब कल्याण की इच्छा रखने वाले हों । आयतन सेवा जो धर्म के स्थान हैं मंदिर, गुरुसेवा, साधर्मी

बन्धु व्रती पुरुष इनकी सेवा करना आयतनसेवा है । उत्कृष्ट धर्म का स्रवण करना । जो उपाय दुःख से हटाकर सुख में पहुंचाये वह सद्धर्म है । जो वस्तु में स्वभाव है वह उस वस्तु का धर्म है । आत्मा का स्वभाव ज्ञानरूप है । उसकी दृष्टि करना, उसका आश्रय लेना सो सद्धर्म है । सद्धर्म की वार्ता सुनना सद्धर्म स्रवण है । ये सब सौधर्मादिक स्वर्ग के आयु के आस्रव हैं अर्थात् देवायु तो बँधती है पर उनमें भी सौधर्म आदिक स्वर्गों में उत्पन्न हों उतनी आयु बंधती है । स्वगौरव दर्शन—अपने आत्मा का गौरव निरखना, अभिमान नहीं किन्तु गौरव, अभिमान में तो दूसरे के प्रति तुच्छता का परिणाम होता है, पर गौरव में दूसरे के प्रति तुच्छता का भाव नहीं है किन्तु अपने गुणों पर गौरव है । और उस आत्मा के सहज गुण हैं कारण समयसाररूप उनका आश्रय तो मोक्षमार्ग ही कहलाता है । निर्दोष प्रोषधोपवासता—उपवास प्रोषध पूर्वक उपवास यह निरतिचार चलता है । ऐसा परिणाम रहना, तप की भावना, अनशन आदिक तप करे और प्रसन्न होकर करे और तपश्चरण करने की भावना रहे सो तपभावना है । बहुश्रुतपना—आगम का खूब अभ्यास होना, तत्त्वों की जानकारी होना बहुश्रुतपना हैं । आगमपरता—आत्मा का ज्ञान और आगम में बताये हुए तत्त्वों का चिन्तन मनन उस ही में उपयोग रखना आगमपरता है । कषायनिग्रह—क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को वश करना । कदाचित् कषाये आये तो ज्ञान के बल से उन्हें तोड़ देना सो कषायनिग्रह है । ये सब परिणाम सौधर्म आदिक स्वर्ग के आयु के आस्रव के कारण हैं । पात्रदान—रत्नत्रय के धारी दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र कहलाते हैं । भक्तिपूर्वक सुपात्रदान करना, सेवा करना पात्रदान है, पीत और पद्मलेश्या के परिणाम होना, जो धर्म से सम्बन्ध रखता है, समता परिणाम में बढ़ता है वे सब परिणाम सौधर्मादिक स्वर्ग की आयु के आस्रव है । मरण समय में समाधिमरण, धर्म ध्यान की प्रवृत्ति आत्मभावना और भी धर्मभावना, तीर्थक्षेत्र का स्मरण तीर्थकरों का स्मरण परमात्मा का स्मरण, आत्मस्वरूप का स्मरण यों मरण के समय धर्मध्यानरूप प्रवृत्ति रहे वे सौधर्मादिक स्वर्ग की आयु के आस्रव हैं ।

(७९) भवनाद्यायु के आस्रव के कारण—कुछ परिणाम भवनवासी आदिक के आस्रव करने वाले हैं । जैसे अव्यक्त सामायिक करना, पर उसमें भी कुछ भी बोलचाल या अन्य क्रिया जिससे कि वह सामायिक व्यक्त नहीं होती ऐसा परिणाम, और सम्यग्दर्शन की विराधना सम्यक्त्व है । पर उसका घात हो जाये, सम्यक्त्व मिटने लगे ऐसा परिणाम भवनवासी आदिक के आयु के आस्रव के कारण है ।

(८०) विभिन्न स्वर्गादिकों की आयु के आस्रव के कारणों का प्रपञ्च—कुछ परिणाम प्रथम स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग अर्थात् १६ वें स्वर्ग तक के देवों में उत्पन्न हों, ऐसे देवायु के आस्रव के कारण बनते हैं । जैसे पंचअणुव्रत का धारण करना, ऐसा सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च होना या मनुष्य होना जो पञ्च अणुव्रत का धारण करे तो

उसका प्रथम स्वर्ग से लेकर १६ वें स्वर्ग पर्यन्त तक के देवों में उत्पन्न होने लायक देवायु का आस्रव होता है । हाँ उन जीवों के जो अणुव्रत धारक हैं, सम्यग्दर्शन की विराधना हो जाये, सम्यक्त्व नष्ट हो जाये, मिथ्यात्व में आये तो स्वर्गों में न जाकर भवनवासी आदिक में उत्पन्न होता है । कुछ ऐसे संन्यासीजन जिन्होंने घर छोड़ रखा, जो जंगल में रहते हैं, पर बाल तप तपा करते हैं, तत्त्वज्ञान से रहित हैं, अज्ञानी हैं, पर मंदकषाय हैं, उस मंद कषाय के कारण अनेक बाल तप तपने वाले संन्यासीजन भवनवासी से लेकर १२ वें स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं । उनके उस प्रकार के देवायु का आस्रव हो ही, यहाँ यह नियम नहीं है कि वह देव में हो जाये । कोई मरकर मनुष्य भी होते, तिर्यञ्च भी हो जाते, पर देवायु बंधे तो उस प्रकार बंधे यह बात यहाँ बतायी जा रही है । इन्हीं कारणों जैसे कुछ कारण हैं जिनसे देवायु न बंधकर मनुष्य, तिर्यञ्च और व्यन्तरो में उत्पन्न हो लेते हैं ।

(८१) व्यन्तरों सम्बन्धित आयु के आस्रवों के कारण—तो व्यन्तरों में उत्पन्न हो सके ऐसा परिणाम, यह है अकाम निर्जरा । भूख प्यास का सहना, ब्रह्मचर्य, पृथ्वी पर सोना, मल धारण याने शरीर पर मल हो तो उसे भी न छुटाये, ऐसे परीषहों से खेदखिन्न न होना, किन्हीं मूढ़ गुप्त पुरुषों के बंधन में पढ़ने पर भी न घबड़ाना । बहुत काल से बीमार चले आ रहे ऐसे रोग में भी संक्लेश परिणाम न करना । पर्वत के शिखर से धर्म मानकर झंझपात गिर जाना, अनशन करना, अग्नि में प्रवेश करना विष भक्षण करना, इनको ही धर्म मानें और धर्म मानकर ये किए जायें तो ऐसे संन्यासी कुतपी व्यन्तरों में उत्पन्न होते हैं और कुछ मनुष्य तिर्यञ्चों में भी हो सकते हैं । जिन पुरुषों ने शील या व्रत का धारण नहीं किया, किन्तु दयावान हृदय के हैं, जलरेखा की तरह मंद कषाय हैं, जैसे जल में लाठी से रेखा की जाये तो वह तुरन्त समाप्त हो जाती है इतनी मंद कषाय है, ऐसा कोई भोगभूमि का जीव है वह देवों में तो होगा, मगर यह शील की तरफ जरा भी दृष्टि न होने से व्यन्तर आदिक में उत्पन्न होता है । यद्यपि भोगभूमि में शील और व्रत का नियम किसी के नहीं होता, पर भावों में अनेकों के धर्मदृष्टि रहती है । जिनके धर्म की दृष्टि भी नहीं ऐसे भोगभूमिज व्यन्तर आदिक में उत्पन्न होते हैं । अब आयु के आस्रव के कारणों में एक अन्तिम सूत्र कहते हैं ।

सूत्र 6-21

सम्यक्त्वं च ॥६-२१॥

(८२) सम्यक्त्व होते संते संभावित आयुबन्ध का विवरण—सूत्र का अर्थ है—सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है । इसका भाव यह समझना कि सम्यक्त्व तो देवायु के आस्रव का कारण नहीं, वह तो मोक्ष का मार्गरूप है, पर सम्यक्त्व के होते सन्ते राग परिणाम के कारण, शुभानुराग के कारण आयु बंधती है तो देवायु बंधती है, इससे भी यह जानना कि यह मनुष्य की अपेक्षा कथन चल रहा है । तिर्यञ्च भी ग्रहण कर सकते, सम्यक्त्व के होने पर मनुष्य या तिर्यञ्चों में आयु बंधती तो देवायु, मगर नारक और देव में रहने वाले सम्यग्दृष्टि को आयु बंधती है मनुष्यायु । यहाँ पृथक् सूत्र दिया है, उससे यह ज्ञात होता कि सम्यक्त्व होने पर जो आयु

बंधेगी तो सौधर्म आदिक स्वर्गवासी देवों के बँधेगी और इस सूत्र से यह भी सिद्ध होता कि पहले जो सरागसंयम और संयमासंयम देवायु के कारण बताये थे सो वे इन वैमानिकों की आयु के आस्रव के कारण हैं। सम्यक्त्व होने पर भवनवासी आदिक देवों में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अब आयुर्कर्म के अनन्तर नामकर्म का निर्देश है। तो नामकर्म के आस्रव कौन हैं, यह जानने के लिए चूँकि नामकर्म के दो प्रकार हैं—(१) अशुभ नामकर्म और (२) शुभ नामकर्म तो उनमें अशुभ नामकर्म के आस्रव की जानकारी के लिए सूत्र कहते हैं—

सूत्र 6-22

योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः॥६-२२॥

(८३) अशुभनामकर्म के आस्रव के कारणों का प्रतिपादन—योगों की कुटिलता और विसम्वाद करना ये सभी नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। योग ३ होते हैं—काय, वचन और मन, उनकी कुटिलता परस्पर असामंजस्य अर्थात् मन में और, वचन में और करे कुछ और तथा इनका दुष्ट रूप से प्रवर्तन करना ये अशुभ नामकर्म का आस्रव कराते हैं। विसम्वाद अन्याय प्रवृत्ति को कहते हैं। कोई कुछ चाहता है उसके विरुद्ध प्रवृत्ति करने लगना वह विसम्वाद कहलाता है। विसम्वाद का अर्थ प्रसिद्ध है झगड़ा करना। तो वास्तव में झगड़ा करना अर्थ नहीं है, पर दूसरे के मन के विरुद्ध प्रवृत्ति जो करेगा सो उससे झगड़ा होगा ही। तो झगड़ा तो फल है और विसम्वाद कारण है। तो यों विसम्वाद करना अशुभ नामकर्म का आस्रव कराता है, योगवक्रता में तो सरलतारहित उपयोग करने की बात थी और विसम्वाद में दूसरे के प्रति अन्य प्रकार से प्रवर्तन करने व प्रतिपादन करने की बात है, यही विसम्वाद कहलाता है। यद्यपि कुछ कारण अनेक प्रकृतियों का आस्रव करते सो ठीक ही है। किस किस कर्म के लिए क्या-क्या कारण चाहिए सो उन कारणों का वर्णन किया है, पर उस कारण में ज्ञान के विषय में आस्रव करना, नामकर्म का आस्रव करना सभी बातें बसी हुई हैं। यहां अशुभ नामकर्म के आस्रव में योगवक्रता और विसम्वाद को आस्रवहेतु बताया गया है।

(८४) योगवक्रता व विसंवादन में अन्तर—यहाँ शंकाकार कहता है कि केवल योगवक्रता ही शब्द देना चाहिए। क्योंकि विसम्वाद में भी योगवक्रता ही तो है अन्यथा प्रवृत्ति करना यह ही तो योगों की कुटिलता कहलाती हैं। तब विसम्वादन शब्द अलग से न कहना चाहिए। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहां कुछ एक नया प्रयोजन सिद्ध होता है विसम्वादन शब्द अलग देने से एक तथ्य ज्ञात होता है और वह क्या है कि अन्य आत्माओं में भी विसम्वाद भाव का प्रयोजन बना है। सच्ची स्वर्ग और मोक्ष वाली क्रियाओं में कोई प्रवृत्ति कर रहा हो उस अन्य पुरुष को काय, वचन, मन से विसम्वाद कर देना, बिचका देना, ऐसा मत करें, ऐसा करें, इस प्रकार कुटिलता से प्रवृत्ति करना विसम्वादन है और योगवक्रता—केवल अपने आपमें योग की कुटिलता है, वह अर्थ है तो इस प्रकार योगवक्रता और विसम्वादन में भेद हो गया। तो जब ये सर्वथा एक न रहे तो इनका अलग प्रयोग करना उचित ही है।

(८५) अशुभ नामकर्म के आस्रवों के कारणों में मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता व कूटमानतुलाकरण

का निर्देश—इस सूत्र में च शब्द भी दिया हुआ है जिससे अन्य कारणों का समुच्चय कर लिया जाता है वह अन्य कारण क्या है जिससे अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है । वह इस प्रकार है—मिथ्यादर्शन—जिनके मिथ्यादर्शन का परिणाम है उनके नामकर्म अशुभ ही आस्रव में आयेंगे । किसी भी भाव के होते हुए ७ कर्मों का आस्रव तो होता ही है । आयुकर्म का आस्रव ८ अंशों में होता है जिनका कि कथनों के हिसाब से अलग-पलग विधान है, पर ७ कर्मों का तो सदैव आस्रव होता है तो वह परिणाम अमुक कर्म का किस तरह आस्रव करता अमुक कर्म का कैसे आस्रव का कारण है वह सब बताया जा रहा है । तो मिथ्यात्व का परिणाम अशुभ नामकर्म का आस्रव करता है । पिशुनता—चुगली करना, गुपचुप किसी का परिवाध करना यह सब पैसून्य कहलाता है । अब खोटे परिणाम अशुभ नामकर्म का आस्रव कराते हैं, चित्त का अस्थिर होना—ऐसी प्रकृति बन जाये कि चित्त स्थिर ही न हो सके, ऐसे समय में जो परिणाम चलते हैं वे परिणाम अशुभनामकर्म का आस्रव करते हैं । झूठे बाट, तराजू आदिक रखना, व्यापार में लेने के समय अन्य प्रकार के बाट, देने के समय अन्य प्रकार के बाट अथवा तराजू में कोई अंतर डाल देना ।

(८६) अशुभ नामकर्म के आस्रवों के कारणों में सुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति कुटिलसाक्षित्व आदि का प्रतिपादन—कृत्रिम स्वर्ण मणि रत्न आदिक बनाना, ऊपर से जचे कि यह सोना है, उसके भीतर ताँबा पीतल है, ऊपर स्वर्ण का पानी चढ़ाया है और उसे सच्चे स्वर्ण के रूप में बेचना चाह रहा है तो ऐसे ही मणि रत्न आदिक झूठे बनाना, नकली बनाना ये सब परिणाम क्रियायें नामकर्म के आस्रव का कारण भूत हैं । झूठी गवाही देना, अंगोपांग का छेदन कर देना, पदार्थों के रस, गंध आदिक का विपरीत परिणाम देना, यंत्र पिंजरा आदिक बनाना, जिनमें जीव फांसे जाते, हैं, माया की बहुलता होना ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारणभूत हैं । दूसरे पुरुष की निन्दा करना, अपने आपकी प्रशंसा करना, मिथ्या वचन बोलना, दूसरे का द्रव्य हरना, ऐसी अनर्थ क्रियायें अशुभ नामकर्म का आस्रव करती हैं । बहुत आरम्भ करना, आरम्भ उसे कहते हैं जिसमें हिंसा होती हो, ऐसी काय आदिक की चेष्टायें करना, महान् आरम्भ करना, महान् परिग्रह भाव रखना, बाह्य पदार्थों में लगाव रखना, भेष को शौकीन बनाना प्रायः लोग नाना प्रकार के भेष बनाते हैं, अनेक कमीजें हैं, अनेक साड़ियाँ हैं, अनेक ढंग के आभूषण हैं, उन्हें बदल बदलकर पहिनना और पहिनकर अपने आपमें मैं कितना अच्छा लगता हूँ इस प्रकार का भाव बनाना, दूसरों को दिखाना ये सब अशुभनामकर्म के आस्रव कराते हैं, जिसके उदय में अशुभ शरीर अशुभ अंग इनकी प्राप्ति होगी । रूप का घमंड करना । कोई गौर रूप मिल गया उसे निरखकर अभिमान करना, कठोर और असभ्य वार्तायें करना, बुरे वचन बोलना और निर्दयता वाले वचन बोलना, गाली बकना, व्यर्थ बकवास करना, अधिक बोलने की प्रकृति रखना ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं । वशीकरण प्रयोग, दूसरे को वश करने के लिए मंत्र तंत्र, जादू आदिक का प्रयोग करना, कहना । सौभाग्य का उपभोग तो कुछ धन वैभव मिला, रूप मिला तो उसका उपभोग शौक शान जैसी वृत्तियों से रहना, दूसरों में कौतूहल उत्पन्न करना, कोई बात ऐसी छेड़ी जिससे लोगों को जिज्ञासा बढे, उनका खेल बढे, कौतूहल बढे, ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव कराते हैं । आभूषणों में रुचि होना, गहनो को देखकर खुश होना, मंदिर की

माला, धूप आदिक कुछ वस्तुवें चुराना, लम्बी हँसी करना, घटना में लम्बी अथवा काल में लम्बी या उसकी लम्बी पीड़ा वाली हँसी करना, ईंटों का भट्टा लगाना, वन में अग्नि जलाना, प्रतिमा के जो आयतन हैं मंदिर आदिक उनको तोड़ देना ये सब क्रियायें अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारणभूत हैं । किसी के आश्रय का नाश कर देना जैसे चिड़ियों ने घोसला बनाया, वे चिड़िया वहां रहेंगी, उसे आश्रय बनाया, उसमें बच्चे उत्पन्न करेंगी तो उन आश्रयों का विनाश कर देना आश्रय विनाश कहलाता है । आराम उद्यान का विनाश करना, अधिक क्रोध, मान, माया, लोभ करना, पाप कर्मों से अपनी आजीविका चलाना ये सब अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारणभूत हैं । अब शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण कहे जाते हैं ।

सूत्र 6-23

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ ६-२३ ॥

(८७) शुभनामकर्म के आश्रवों के कारण—ऊपर सूत्र में कहे गए जो दो कारण हैं उनके विपरीत कारण बनें तो वे शुभ नाम कर्म का आस्रव करते हैं । जैसे मन, वचन, काय में सरलता करना याने योगों में वक्रता न होना और किसी से विसम्वाद न करना ये शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं । यहां भी च शब्द का अनुवृत्ति लेना और उसका अर्थ लेना तो कुछ अन्य भी कारण हैं । जिनसे शुभ नामकर्म का आस्रव होता है । जैसे धार्मिक व्यक्तियों के प्रति आदरभाव होना, शरीर से, मन से और वचन से उनके आदर सत्कार का भाव हों तो शुभ नामकर्म का आस्रव होता है । संसार से भीरुता होना, संसार में राग न जगे किन्तु विरक्ति बने, संसार के दुःखों से भयभीतता रहे, यह शुभ नामकर्म का आस्रव कराता है । धर्म कार्यों में प्रमाद न रहे, चारित्र निश्छल रहे, चारित्र में छल, कपट, मायाचार न हो तो ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के विपरीत भाव हैं, ऐसे ही और भी अनेक शुभभाव समझना चाहिए । उनके होने पर अशुभनामकर्म के आस्रव नहीं रहते हैं । यहाँ तक नामकर्म के आस्रव के कारण बताये गए । इसी बीच एक जिज्ञासा होती है कि क्या शुभ नामकर्म के आस्रव की विधि इतनी ही है या और कोई विशेषपना है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि एक तीर्थकर नामकर्म प्रकृति है । अप्रमत्त पुण्यरूप जो अनन्त अनुपम प्रभाव वाली है और अचिन्त्य विशेष विभूति का कारणभूत है, तीन लोक पर विजय करने वाली है ऐसी तीर्थकर प्रकृति के आस्रव होने की विधि विशेष का वर्णन करते हैं । तो यहां यदि ऐसा ही है तीर्थकर प्रकृति का उच्च फल का तेज तो उसका ही आरम्भ है, तीर्थकर प्रकृति के आस्रव के क्या-क्या कारण हैं यह इस सूत्र में बतलाते हैं ।

सूत्र 6-24

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्षणज्ञानोपयोगसंवेगौ
शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति-
रावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमितितीर्थकरत्वस्य ॥६-२४॥

(८८) तीर्थकरप्रकृति के आस्रव के कारणों में दर्शनविशुद्धिभावना में निःशंकित अंग का निर्देशन—दर्शनविशुद्धि आदिक जिन जिनके इस सूत्र में नाम दिए गए हैं ये वे सब परिणाम तीर्थकर प्रकृति के आस्रव करने के कारणभूत हैं । दर्शनविशुद्धि—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेशे गए निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की रुचि होना, जो रुचि निशंकित आदिक ८ अंगों वाली है वह रुचि दर्शनविशुद्धि कहलाती है । जिनेन्द्र भगवान ने, अरहंत देव ने जो निर्ग्रन्थ रूप मोक्ष मार्ग उपदेशा है उस उपदेश में रुचि होना दर्शनविशुद्धि है । उस दर्शनविशुद्धि के ८ अंग होते हैं । (१) निःशंकित (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि (५) उपवृंहण (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना । निशंकित अंग में ७ प्रकार का भय दूर हो जाता है । ७ प्रकार के भय अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों के लगे रहते हैं, जैसे इहलोक भय—इस लोक में हमारा किस तरह गुजारा होगा, हम किस तरह रह पायेंगे, उसके विषय में भय बनाये रहना इहलोक भय है किन्तु जिन्होंने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूप का अनुभव किया है उनका यह दृढ़ निर्णय है कि मेरा सारा लोक तो मेरा आत्मस्वरूप है उस स्वरूप में विकार नहीं, विपत्ति नहीं, किसी पर का प्रवेश नहीं फिर वहां भय की क्या सम्भावना? स्वरूप को निरखकर ज्ञानी पुरुष निर्भय रहा करते हैं और यह निर्भयता उनका निशंकित अंग है । अथवा जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए वाक्यों में शंका न रहना निशंकित अंग है ।

(८९) निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण व वात्सल्य अंग का निर्देशन—निःकांक्षित अंग—तीनों लोक के प्रसंग लेकर उपभोग की आकांक्षा दूर कर देना, मुझे इस लोक में न कुछ चाहिए न परलोक में कुछ चाहिए, समग्र आकांक्षाओं को दूर कर देना और खोटे पात्र में भी आकांक्षा न रखना जैसे कि अनेक लोग कुगुरु के प्रति आकर्षित रहते हैं और कुछ आशा भी रखते हैं, उन्हें मोक्ष मार्ग का कुछ प्रयोजन नहीं, यदि किसी के मोक्ष मार्ग का प्रयोजन होवे तो वे विषयों की वाञ्छा कैसे करेंगे? तो विषय भोगों की आकांक्षा दूर होना या कुदृष्टि कुजन्म वाले जीवों को आकांक्षा होना । निर्विचिकित्सा शरीर आदिक अशुचि पदार्थों के अशुचि स्वभाव को जानकर यह शुचि है, पवित्र है, ऐसे मिथ्या संकल्प तो निर्विचिकित्सा हैं, पर उस संकल्प को हटा देना निर्विचिकित्सा है । अरहंत भगवान के प्रयोजन में भी यह अयुक्त है । इसमें घोर कष्ट है । यदि इतनी बात इस आगम में न लिखी होती तो सब कुछ बिल्कुल सही बैठता । इस प्रकार अशुभ भावना का परित्याग करना सो निर्विचिकित्सा अंग है । अमूढ दृष्टि अंग—खोटे नय, खोटे दर्शन के अनेक मार्ग है, और उन अनेक प्रकार के मार्गों में तत्त्व की तरफ लगने वाले उन सब मार्गों में युक्ति न चली, युक्ति से वे ठीक न बैठे, इस प्रकार परोक्षचक्षु से निश्चय करके मोहरहित होना अमूढदृष्टि है, याने कुनय में, कुदृष्टि में मोह न होना, उन्हें सही न मानना यह अमूढदृष्टि अंग है । उपवृंहण—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक भावना के द्वारा आत्मा में, धर्म में, स्वभाव में शील में वृद्धि करना उपवृंहण अंग है । स्थितिकरण—कषाय का उदय आदिक होने पर धर्म के ध्वंस करने वाले कारण कोई आ जायें उस समय आत्मा धर्म से च्युत न होवे उसका नाम है स्थितिकरण । वात्सल्य—रागद्वेष पर विजय पाने वाले भगवंतों ने जो धर्माभूत बताया है उसमें नित्य अनुराग बना रहना वात्सल्य अंग है तथा उस धर्माभूत का पान करने वाले अन्य बंधुओं में निश्चल प्रीति होना वात्सल्य

है ।

(१०) तीर्थकरत्वास्रवहेतुओं में दर्शनविशुद्धि में अंतिम प्रभावना अंग का निर्देशन—प्रभावना—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रयों के प्रभाव से आत्मा का प्रकट करना प्रभावना अंग है । जैसे कहते हैं कि धर्म की प्रभावना करना तो उसमें रत्नत्रय का प्रकाश फैले, लोगों के चित्त में रत्नत्रय की महिमा आये तब वह प्रभावना कहलाता । अन्यथा केवल एक खर्च आडम्बर बनाकर लोगों पर यह छाप करना कि हमारा बड़ा प्रभाव है, बहुत बड़े धनिक हैं, इससे धर्म की प्रभावना का कुछ सम्बन्ध नहीं । धर्म तो रत्नत्रय है, सो रत्नत्रय की बात दूसरों के चित्त में बैठे तो प्रभावना है । जैसे लोगों को समझाया जाये कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है । प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता रखता है । एक का दूसरा कुछ नहीं है, कि फिर ममता का कोई अवकाश ही नहीं फिर आत्मा का जैसा सहजस्वरूप है वह ज्ञान में उतरे ऐसा उपाय बने तो वह प्रभावना है । अपना खुद विशिष्ट चारित्रपालन करके संतुष्ट रहे जिसे देखकर अन्य लोगों के चारित्र के प्रति भावना जगे तो वह प्रभावना अंग है । ऐसे ८ अंग सहित सम्यग्दर्शन होना, पर ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर जीवों के कल्याण की भावना होना दर्शनविशुद्धि भावना है ।

(११) तीर्थकरत्वास्रवहेतु में द्वितीय तृतीय चतुर्थ भावना का निर्देश—तीर्थकर प्रकृति के आस्रव के कारणभूत सोलह भावनाओं में द्वितीय भावना है विनयसम्पन्नता । सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदिक में मोक्ष के साधन हैं और उनके साधनभूत गुरु आदिक में अपनी योग्य वृत्ति से सत्कार करना, कषाय को हटाना विनयसम्पन्नता कहलाती है । विनय के बिना पात्रता नहीं आती, लौकिक कार्यों के सीखने में भी जिस गुरु से सीखे उसके प्रति नम्रता विनयभाव होता है तो वह विद्या सुगमता से आ जाती है । फिर यह तो मोक्षमार्ग की बात है । आत्मा में मानकषाय का अंश न हो तब ही पात्रता जगती है और जब तक काय, वचन, मन की प्रवृत्ति है तब तक नम्रता का होना यह सिद्ध करता है कि इसने मान कषाय पर विजय किया है । विनय से आत्मानुभव की पात्रता निर्विघ्न चारित्र को निभाने की पात्रता होती है । तीसरी भावना है शीलव्रतेस्वनतिचार—चारित्र के भेद हैं शील और व्रत । व्रत तो अहिंसा आदिक ५ बताये गए हैं और व्रतों के पालन करने में सहायक शील है । जैसे क्रोध का त्याग करना मान का त्याग करना । तो ऐसे शील और व्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति रहना, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति शुद्ध रहना, शीलव्रतेस्वनतिचार कहलाता है । चौथी भावना है अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग । अभीक्ष्ण का अर्थ है निरन्तर । ज्ञानोपयोग का अर्थ है ज्ञान में उपयोग रहना । ज्ञान की भावना में निरन्तर युक्त रहना सो ज्ञानोपयोग है । ज्ञान के ५ भेद बताये गए हैं—१-मतिज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३-अवधिज्ञान, ४-मनःपर्ययज्ञान और ५-केवलज्ञान । इन ज्ञानों से ही जीवादिक पदार्थों का निर्णय होता है, आत्मतत्त्व का निर्णय होता है । ज्ञान का फल है अज्ञान का हट जाना, यह जो साक्षात् फल है और परम्परा फल है हित की प्राप्ति होना, अहित का परिहार करना, और जो न हित है न अहित है उन प्रवृत्तियों से उपेक्षा रहना और ज्ञान के परिणमनों का आधार आश्रय सहज ज्ञानस्वरूप है सो इन परिणमनों द्वारा सहज ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेना यह है उत्तम ज्ञान में उपयोग । फिर इसमें न ठहर सके तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग रखना यह भी ज्ञानोपयोग है । निरन्तर ज्ञान में

उपयोग रखने को अभीक्षण ज्ञानोपयोग कहते हैं।

(१२) तीर्थकरत्वास्रवहेतु में संवेग व शक्तितस्त्याग भावना—तीर्थकर प्रकृति की १६ भावनाओं में पांचवीं भावना है सन्वेग । संसार से भीरुता करना, डरना, हटना सो सन्वेग भावना है । संसार में सर्वत्र कष्ट ही कष्ट है, शारीरिक कष्ट है, मानसिक कष्ट है । जहां बहुत विकल्प आरम्भ रहा करते हैं, कहीं इष्ट का वियोग हो, कहीं अनिष्ट का संयोग हो इष्ट का लाभ नहीं हो रहा आदिक नाना प्रकार की स्थितियों से संसार का दुःख उत्पन्न होता है । वह अति भयानक है कष्टरूप है, उससे नित्य भीरुता होना सन्वेग भावना है । त्याग भावना—दूसरों की शान्ति के लिए त्याग करना त्याग भावना है । जैसे पात्र के लिए आहार दिया तो पात्र को आहार देना उस पात्र के लिए संतोष का कारण रहा, वह अपनी ज्ञानसाधना में जुटकर संतुष्ट रहता है । पात्र के लिए अभयदान दिया तो उस भव की विपत्तियों को मानो हटा दिया । पात्र के लिए सम्यग्ज्ञान दिया तो वह अनेक भवों के कोटाकोटि दुःखों को हटा देने का कारण बनता है । दानों में प्रधान ज्ञानदान है । यदि किसी आत्मा को अपने स्वरूप का भान होता है और उस स्वरूप में रमण करने का यत्न बनता है तो इसके द्वारा तो अनन्तकाल तक के लिए, हमेशा के लिए संसारसंकट समाप्त हो गए । तो यह तीन प्रकार का यथाविधि दिया गया दान त्याग कहलाता है ।

(१३) तीर्थकरत्वास्रवहेतु में शक्तितस्त्याग भावना—तपभावना—अपनी शक्ति को न छिपाकर मार्ग का विरोध न कर कायक्लेश करना तप है । तपमें कायक्लेश तो है, पर रागद्वेष उत्पन्न करके या समता परिणाम बिगाड़कर संक्लेश या दुःख मानकर कायक्लेश होना तप नहीं कहलाता । जो मार्ग से अविरुद्ध हो ऐसा ही कायक्लेश तप कहलाता है, और इस दृष्टि से देखा जाये तो कायक्लेश नाम दूसरे लोगों के देखने में पीड़ा, खुद क्लेश नहीं करता सो तपश्चरण अंतरङ्ग बहिरङ्ग दोनों प्रकार के होते हैं । उन तपश्चरणों में अपनी शक्ति न छिपाकर लगना तप कहलाता है । तपश्चरण की भावना रखने वाला साधक जानता है कि यह शरीर तो दुःख का कारण है, विनाशीक है, अपवित्र है, इस शरीर का मनमाना भोग विधि से पोषण करना युक्त नहीं है । आखिर यह शरीर छूटेगा ही और भिन्न है, इस पर उपभोग देने से कष्ट ही है । इस शरीर को भोगों में रमाकर इसका पोषण करना यह युक्त नहीं है । तो ऐसा यह शरीर अशुचि है, उपेक्षा के योग्य है, फिर भी यह मनुष्यभव प्राप्त होना बड़ा कठिन है, इसमें श्रेष्ठ मन मिला है, यहाँ रत्नत्रयगुण का संचय कर लें तो अनन्तकाल के लिए हम संसार से पार हो सकते हैं और उन गुण रत्नों का संचय कर सकें इसके लिए यह जरूरी है कि यह भव बना रहे कुछ समय तो धर्मसाधना कर सकेंगे और यह भय बना रहे इसके लिए शरीर का कुछ पोषण आवश्यक है । सो जैसे किसी भूव्य से काम कराने के लिए उसका पोषण किया जाता है ऐसे ही इस शरीर से काम कराने के लिए इस शरीर का भी उपयोग होना उचित है । जैसे आत्मा की भावना बढ़े उस प्रकार इस शरीर से तपश्चरण आदिक का काम निकलता है, ऐसा जानने वाला साधक कायक्लेश में रंच भी क्लेश नहीं मानता और मार्ग के अविरुद्ध अपनी शक्ति को न छिपाकर तपश्चरण करता है ।

(१४) तीर्थकरत्वास्रवहेतु में ८, ९, १०, ११, १२, १३ वीं भावना का निर्देशन—साधु समाधि—अनेक व्रत शीलें

से समृद्ध बड़े हुये मुनिगणों के तप में कोई विघ्न उपस्थित हो तो उन विघ्नों को दूर करना साधुममाधि कहलाती है। जैसे भण्डार में आग लग जाये तो प्रयत्न पूर्वक उस अग्नि को शान्त किया जाता है ताकि भण्डार में रहने वाले रत्न बच जाये, ऐसे ही मुनिराज व्रत शीलों के भण्डार वहां कोई विघ्न आ जाये, उन विघ्नों का निवारण करना साधुसमाधि है। वैयावृत्ति—गुणी जनों पर, साधु संतों पर कोई कष्ट आये, रोग आये उसको निर्दोष विधि से हटा देना, उनकी सेवा करना यह वैयावृत्ति है। वैयावृत्ति से उपकृत साधु अपने गुण की उपासना में जुट जाते हैं इसलिए यह वैयावृत्त मोक्षमार्ग में सहायक है। अर्हदभक्ति केवलज्ञान, अनेकचतुष्टय सम्पन्न निर्दोष परमात्मा अरहंत कहलाते हैं। अरहंत भगवान के गुणविकास का स्मरण करना, उनके प्रति अनुरक्त होना, उनकी भक्ति करना अर्हद्वृत्ति कहलाती है। आचार्यभक्ति—साधुजनों को निर्विघ्नतया मोक्षमार्ग में प्रवर्तन के सहायक आचार्य महाराज, जिनको बताया है कि ये संसार से निस्तारक है उनके गुणों में प्रीति होना, उनके रत्नत्रय गुणों का स्मरण होना, उनकी आज्ञानुसार चलना यह आचार्यभक्ति कहलाती है। बहुश्रुतभक्ति—जिन साधुसंतों को बहुत ज्ञान है, ऐसे विपुल श्रुतज्ञानी साधुसंतों के ज्ञानचारित्र की भक्ति करना, उनकी आज्ञा में रहना, उनकी सेवा का भाव रखना बहुश्रुतभक्ति कहलाती है। प्रवचनभक्ति—प्रवचन आगम को कहते हैं। प्रवचन श्रुतदेवता है, उसके प्रसाद से मोक्षमार्ग में गमन करना सरल होता है, ऐसे परम उपकारी प्रवचन की भक्ति करना प्रवचनभक्ति है।

(१५) तीर्थकरत्वास्रवहेतु में आवश्यकपरिहाणि भावना का निर्देशन—आवश्यकपरिहाणि—साधुजनों के ६ आवश्यक होते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये ६ आवश्यक क्रियाओं का यथासमय बिना नागा स्वाभाविक क्रम से करते रहना आवश्यकपरिहाणि है। इसमें दो शब्द हैं—आवश्यक और अपरिहाणि। आवश्यक कार्यों में कमी न करना आवश्यकपरिहाणि है। प्रथम आवश्यक है सामायिक, समस्त पाप योगों का त्याग करना, चित्त को एकाग्ररूप से ज्ञान में लेना, आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस सहज ज्ञानस्वरूप की आराधना रखना सो सामायिक नाम का गुण है। रागद्वेष न होकर समता परिणाम रहना इस स्थिति का नाम सामायिक है, चतुर्विंशतिस्तव—चौबीसों तीर्थकरों का गुणकीर्तन करना, स्तवन करना चतुर्विंशतिस्तव है। वंदना—मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक षड्गासन या पद्मासन से अपने ध्येयजनों की वंदना करना, जो वंदना चार बार सिर से नमस्कार करना और १२ अंजुली में आवर्त करना इन क्रियाओं पूर्वक वंदना करने को वंदना कहते हैं। किये हुए दोषों का निवृत्ति का नाम प्रतिक्रमण है। आगामी काल में दोष न हों इसके लिए सावधानी रखना प्रत्याख्यान है। शरीर से ममत्व त्यागना कायोत्सर्ग है और शरीर से पूर्ण उपेक्षा रखना, कुछ से कुछ क्रियायें ही न करना यह अभ्यासानुसार कुछ समय तक किया जाता है। ये सब कायोत्सर्ग कहलाते हैं।

(१६) तीर्थकरत्वास्रवहेतु में मार्गप्रभावना व प्रवचनवत्सलत्व भावना का निर्देशन—मार्गप्रभावना—संसार से छुटकारे का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। उस मार्ग के ज्ञानद्वारा, चारित्रद्वारा, अन्य उपाय द्वारा प्रभावना करना मार्ग प्रभावना है। जिस ज्ञानसूर्य की किरणों से अज्ञानसमर्थक मतों का प्रकाश दूर हो

जाता है, यह मार्ग प्रभावना है। लोगों के यह निर्णय बन जाये कि वास्तविक मार्ग तो सहज आत्मस्वरूप का श्रद्धान् ज्ञान और सम्यक् आचरण है, तो यह है वास्तविक मार्गप्रभावना। तपश्चरण आदिक से भी मार्गप्रभावना बनती है, ऐसा महान उपवास जो बड़े-बड़े धीरों को आसन को भी कंपा देता है ऐसे तपश्चरणों से मार्ग की प्रभावना होती है। जो लोग देखते जानते हैं उनके भी भावों में अतिशयता आती है, और यों तपश्चरणों से भी मार्गप्रभावना होती है। मार्गप्रभावना का एक कारण जिनपूजा है। जिनेन्द्र भगवान का गुणानुवाद पूजन विधान आदिक द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। प्रवचनवत्सलत्व—प्रवचन नाम साधर्मीजनों का है। साधर्मीजनों में स्नेह होना प्रवचनवत्सलता है। जैसे गाय अपने बछड़े से प्रकृत्या प्रीति करती है, उस गाय को बछड़े से कोई आजीविका की आशा नहीं है किन्तु प्रकृत्या स्नेह होता है ऐसे ही साधर्मी जनों से कोई छल कपट की आशा न रखकर स्वाभाविक रीति से स्नेह करना, धर्मात्माजनों को देखकर स्नेह से भर जाना यह प्रवचनवत्सलत्व है। इस प्रकार ये १६ कारण भावनार्ये तीर्थकर प्रकृति के आस्रव का कारण होती हैं। यहाँ तक नामकर्म के आस्रव के कारण कहे गए हैं। अब क्रम प्राप्त है गोत्रकर्म। गोत्रकर्म दो प्रकारका होता है—(१) नीचगोत्र और (२) उच्चगोत्र, जिनमें अब नीच गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं।

सूत्र 6-25

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥६-२५॥

(१७) नीचैर्गोत्र कर्म के आस्रवों के मुख्य कारण—दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरे में गुण विद्यमान हैं तो भी उनको ढक देना याने वे प्रकाश में न आ सकें ऐसा प्रयत्न करना और अपने में गुण मौजूद न भी हों तो भी उन गुणों का ढिंढोरा पीटना यह नीच गोत्र के आस्रव का कारण है। निन्दा में दूसरे के दोष प्रकट करने की इच्छा रहती है, रुचि रहती है, दूसरे को दोष प्रकट करने का प्रयत्न चलता है। चाहे वे दोष वास्तव में हों अथवा न हों, उन दोषों को प्रकट करने का प्रयत्न करना निन्दा कहलाती है। कल्याणार्थी पुरुषों को परनिन्दा करने की वृत्ति नहीं जगती। परनिन्दा से आत्मा का कोई कोई लाभ नहीं है। कोई ऐसा सोचे कि दूसरे में जो दोष हैं उनकी प्रकट करने में क्यों बुराई बताते हैं? दोष न हों और उन दोषों को प्रकट करे, इसी में तो बुराई मानना चाहिए? तो उनका यह सोचना कल्याणमार्ग के विरुद्ध है। स्वयं दोषों से भरा हुआ है जिससे कि संसार में जन्म मरण हो रहा है, स्वयं को जन्म-मरण के दुःख से बचाना आवश्यक है, अपने दोषों का निवारण करना आवश्यक है। दूसरे के दोषों पर दृष्टिपात करके अपना उपयोग खराब करना क्या आवश्यक है? तो दूसरे के दोष चाहे तथ्यभूत हों चाहे अतथ्यभूत हों उनका प्रकाशन करना परनिन्दा है। आत्मप्रशंसा अपने में गुण हो तो, न हों तो उन गुणों का प्रकाशन करना प्रशंसा है या अपने गुणों को प्रकट कराने का अभिप्राय रखना आत्मप्रशंसा है। आत्मप्रशंसा की वृत्ति इस आत्मा के पतन का कारण है। इस संसार में जहां कि कर्मों से बंधे हैं, जन्ममरण के संकटों से फंसे हैं उसमें अपने को मौज से रखना, प्रशंसा करना, कराना,

यह क्या आवश्यक है? यह तो और पतन का कारण है सो अपने में कोई भी गुण हों तो भी उनके प्रकाशन का अभिप्राय न रखना, जो पुरुष आत्मप्रशंसा का आशय रखते हैं उनके नीच गोत्र का आस्रव होता है। छादन नाम ढकने का है, ऐसे प्रतिबंधक कारण जुटाये जिससे वस्तु प्रकट न हो सके इसका नाम छादन है। सो दूसरे के गुण उसमें मौजूद भी हैं तो भी उनको ढक देना। ऐसी बात मिलाना कि वह गुण प्रकट न हो सके, ऐसे परगुण छादन की भावना से नीचगोत्र का आस्रव होता है। उद्भावना—अपने में गुण नहीं हैं तो भी उनका उद्भावन करना, ढिंढोरा पीटना यह नीच गोत्र कर्म का आस्रव कराता है। नीच गोत्र का आस्रव होने पर जब उसका उदयकाल आता है तो इस जीव को नीच कुल में जन्म लेना पड़ता है और वहां जीवनभर संताप सहता है। गोत्र शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है कुल। यह गोत्र शब्द बना है गूंज धातु से जिसकी निरुक्ति है—गूज्यते शब्दयते इति गोत्रं, जो शब्द व्यवहार में आये उसे गोत्र कहते हैं। यह गोत्र का शब्दार्थ है, पर भावार्थ यह है कि जिससे आत्मा नीच या उच्च व्यवहार में आये सो गोत्र है। यहां नीच गोत्र का प्रकरण है। आत्मा नीच व्यवहार में आये सो नीच गोत्र का प्रकरण है। इस सूत्र में नीच गोत्र के आस्रव के कारण संक्षेप से बताया, अब उन कारणों का विस्तार से विचार करना है तो इस प्रकारसे विचार कीजिए।

(१८) नीचगोत्रकर्म के आस्रव के कारणों का प्रपञ्च—इस सूत्र में च शब्द दिया है तथा बहुत पहले आस्रव वाले सूत्र से इति शब्द की भी अनुवृत्ति चली आ रही आ रही है जिससे अन्य अनेक कारण भी ग्रहण कर लिए जाते हैं। और कारण क्या है जिन भावों के होने पर नीचगोत्र का आस्रव होता है, इसी को कहते हैं मद करना, जाति उत्तम मिली हो। जो लोकपूज्य हैं उस जाति का घमंड करना कि उत्तम जाति का हैं, कुल का घमंड करना। पिता के गोत्र को कुल कहते हैं और मामा के कुल को जाति कहते हैं। मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूं ऐसे कुल का लक्ष्य करके अपने स्वभाव को भूलकर अहंकार आ जाना यह कुल मद है। शरीर के बल को देखकर घमंड आना, मैं बहुत बलिष्ठ हूं, शरीर के रूप को देखकर घमंड करना कि मैं बहुत सुन्दर हूं। जो ज्ञान पाया है उसका अहंकार जगना। यदि इस लोक में आज्ञा चलती है तो उस आज्ञा का घमंड आ जाना, कुछ प्रभाव और ऐश्वर्य यदि मिला है तो उसका अहंकार होता है, कुछ तपश्चरण किया जाता हो तो उसका मद होना, इन मदों की स्थिति में आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है और पर विकल्पों में लग जाता है और उन विकल्पों में भी अपने आपकी प्रशंसा सम्बंधित विकल्प जगने लगना सो ये सब मद नीच गोत्र का आस्रव कराते हैं। पर की अवज्ञा होना, ऐसे वचन बोलना जिससे दूसरों का अपमान होता हो सो पर की अवज्ञा है। दूसरे की हंसी करना, अपने आपको उच्च कल्पना करने के कारण दूसरे लोग इसकी दृष्टि में नीच प्रतीत होते हैं और इस कल्पना के कारण दूसरे की हंसी किया करते हैं। ये सब नीच गोत्र का आस्रव कराते हैं। निन्दा का स्वभाव हो जाना ऐसी ही प्रकृति बन जाये कि किसी दूसरे की निन्दा ही किया करे, धार्मिक जनों का परिहास करना, धर्मात्माजन रात्रि को नहीं खाते, शुद्ध भोजन करते, पूजा, ध्यान भक्ति में लगते तो उनकी इन क्रियावो को मूर्खों जैसी क्रियावोंका रूप देखते हुए परिहास करने लगना, ये सब भाव नीच गोत्र का आस्रव कराते हैं। अपने आत्मा का उत्कर्ष जताना, और दूसरे के यश का लोप करना, अपनी कीर्ति के अर्जन

के लिए मिथ्या उपाय बनाना और झूठी कीर्ति फैलाना, गुरुजनों का परिहास करना, ये सब परिणाम नीच गोत्र का आस्रव करते हैं। नीच गोत्र के आस्रव कराने के भाव भी नीच ही होते हैं। उन भावों में गुणों के ख्याल का स्थान नहीं रहता। गुरु जनों के दोष की ही प्रसिद्धि करते रहना, गुरु जनों की भर्त्सना करना उनके सामने असभ्यता से पेश आना, जोर से शब्द बोलना ये सब नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं। गुणी जनों के गुणों का आसादन करना, गुणों को दोष के रूप में प्रकट करना, बड़े पुरुषों को देखकर विनय न करना प्रत्युत बैठे ही रहना, बुरी दृष्टि से निरखना, उनके विनय के प्रतिकूल दूसरे लोगों को इतना उत्साह देना ये सब खोटे भाव नीच गोत्र का आस्रव कराते हैं। यदि कोई पुरुष महापुरुषों को देखकर उनके गुणों के प्रति हर्ष नहीं प्रकट कर पाता, उनके गुणों के वर्णन में दो शब्द नहीं बोल सकता, उन्हें देखकर खड़ा होना, उनके जाते समय कुछ दूर तक पहुंचाना आदिक न कर सके तो ऐसे बड़े अहंकार भाव के कारण और अपने आपको महान् कल्पना करने के कारण उसके नीच गोत्र का आस्रव होता है। तीर्थंकर अरहंत देव भगवान पर आक्षेप करना, उनकी कथा सुनकर किसी भी घटना को उल्टे रूप में पेश करना ये नीच गोत्र के आस्रव कराने के कारण हैं। शास्त्र आगम, धर्म की निन्दा करना ये सब नीच गोत्र के आस्रव कराते हैं, गुरु जनों को निरखकर उनके भेष पर हँसी करना, ये साधु लोग मलिन हैं, गंदे रहते हैं, ये नहाते भी नहीं हैं, आरोपों को लगाकर उपहास करना ये सब नीच गोत्र के आस्रव कराने वाले हैं। जिन-जिन क्रियाओं में दूसरे की निन्दा बसी हो और दूसरे की प्रशंसा बसी हो वे-वे सब क्रियायें नीच गोत्र के आस्रव के कारणभूत बनती हैं। नीच गोत्र का उदय होने पर नीच कुल में जन्म होता है और उस समय दूसरे लोगों की दृष्टि में मैं नीच हूँ ऐसा ख्याल कर करके भीतर छूटता रहता है, संक्लेश करता है, जिसके फल में संसारभ्रमण और भी लम्बा होता चला जाता है। जिसको मोक्ष की रुचि हो, संसारसंकटों से छुटकारा पाने की अभिलाषा हो उसे नीच गोत्र के आस्रव के कारणभूत प्रसंगों में न लगना चाहिए। अब नीच गोत्र के आस्रव का कारण कहकर उच्च गोत्र के आस्रव की विधि कहते हैं—

सूत्र 6-26

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥६-२६॥

(९९) उच्चैर्गोत्रकर्म के आस्रव के मुख्य कारण—उससे उल्टा तथा विनय से नम्र होना एवं धमंड न करना ये उच्च गोत्र के आस्रव के कारणभूत हैं। तद्विपर्ययः, इस प्रथम पद में तत् शब्द से अर्थ लिया नीच गोत्र जिसका कि वर्णन इससे पहले सूत्र में आ गया है। ग्रहण हुआ याने नीच गोत्र के, आस्रव के कारण से उल्टा। नीच गोत्र के आस्रव बताये गए थे—पर निन्दा, आत्मप्रशंसा, तो यहां लेना है परप्रशंसा, आत्मनिन्दा। दूसरे पुरुषों के गुणों की प्रशंसा करने से उच्च गोत्र का आस्रव होता है, जिसके उदय में वह उच्च गोत्र में उत्पन्न होगा। अपनी निन्दा करने से अर्थात् अपने में जो त्रुटि है, दोष है, विषय कषाय सम्बंधी वृत्ति है, और और भी जो व्यवहार के योग्य हैं, ऐसे हीन आचार को निरखकर अपनी निन्दा करना यह मेरे को उचित नहीं है। स्वयं भी सोचना और दूसरे लोगों को भी बताना कि मेरे में यह दोष लगा है आदिक ये सब आत्मनिन्दा उच्च गोत्र के

आस्रव का कारण है। नीच गोत्र के आस्रव में बताया था कि दूसरे के गुण हों या न हों उनको ढांक देना तथा अपने में गुण हों या न हों उनको प्रकट करना, ढिंढोरा पीटना, तो यही उच्च गोत्र के आस्रव में कारण जानना, दूसरे के गुण हों या न हों उनको प्रकट करना और आत्मा के गुण हों या न हों उनको ढांकना अथवा यहां सत् और असत् को भी क्रम से लगाना जिससे अर्थ निकलता है कि दूसरे के सद्भूत गुणों को प्रकट करना और अपने असद्भूत गुणों को ढांकना, तात्पर्य यह है कि दूसरे के गुणों को बखानना उच्च गोत्र के आस्रव का कारण है और अपने गुणों को ढांकना, प्रकट न करना, न कहना उच्च गोत्र के आस्रव का कारण है। इसके अतिरिक्त दो कारण और कहे गए हैं—(१) नीचैर्वृत्ति, (२) अनुत्सेक। जो पुरुष गुणों में उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनय से झुक जाना, अपने को नम्र कर देना सो नीचैर्वृत्ति है। दूसरे के गुणों को ध्यान में लेने से ज्ञेयाकार भी गुण रहा और गुण रुचि होने से स्वयं के गुण में भी विकास का प्रारम्भ होता है। गुणी पुरुषों के प्रति नम्र होने से आत्मा के ज्ञानस्वभाव का बाधक अहंकार दूर हो जाता है, इस कारण नम्रता में मोक्षमार्ग भी मिलता है और संसार में जब तक रहना पड़ता है तब तक उसके उच्च गोत्र का आस्रव होता है। अनुत्सेक—अहंकार न होना सो अनुत्सेक है। ज्ञानादिक में उत्कृष्ट होने पर भी उस ज्ञानादिक का लक्ष्य कर मोही जनों को मद होता है, वह मद इसके नहीं है, यही है अनुत्सेक। ये सब परिणाम उच्च गोत्र के आस्रव के कारणभूत हैं।

(१००) उच्चैर्गोत्रकर्म के आस्रवों के कारणों पर अनतिविस्तृतविवरण—सूत्र में जो परिणाम बताये गए हैं उनके विस्तार में इम प्रकार समझना कि जाति, कुल, बल, रूप, ज्ञान, ऐश्वर्य, तप आदिक की विशेषता होने पर भी उनका अहंकार न होवे तो वे सब शुद्ध परिणाम उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं। दूसरे का तिरस्कार न करना उच्च गोत्र आस्रव कराता है, दूसरे का तिरस्कार उससे ही सम्भव नहीं है जो अपने आत्मस्वरूप को जानता है और सब जीवों में इस ही स्वरूप को निरखता है। सभी प्राणी स्वरूपतः एक समान हैं ऐसा बोध होने पर दूसरे के तिरस्कार की भावना कैसे हो सकती? ऐसा उच्च परिणाम उच्च गोत्र के आस्रव के कारणभूत है। अपने में उद्धतता न होना अर्थात् उद्धतपन उजडुता का अभाव होना, दूसरे से ईर्ष्या न करना, दूसरे का उपहास न करना, दूसरे का अपयश न करना, यह उच्च गोत्र का आस्रव कराता है। साधर्मी व्यक्तियों का सम्मान करना, गुणी पुरुषों को निरखकर खड़े होना, अंजुलि चढ़ाना, नमस्कार करना ऐसा यह नम्र परिणाम उच्च गोत्र का आस्रव कराता है। निर्हङ्कार नम्र वृत्ति होना, सरलता होना, सब जीवों के सुखी होने की भावना रखना, अपने में सदैव नम्रता रहना, उच्च गोत्र का आस्रव कराता है। राख में ढकी हुई अग्नि जैसे अंदर ही पड़ी है, उसका प्रकाश प्रताप अंदर ही है, बाहर में उसका ढिंढोरा नहीं पिट पाता, ऐसे ही अपने में कोई गुण हों तो वे अपने में ही बने रहें, उनको बाहर में ढिंढोरा न पीटें, ऐसा जो नम्र परिणाम है वह उच्च गोत्र का आस्रव कराता है, धर्म के जितने स्थान है उनमें आदर बुद्धि न होना, जैसे मंदिर जी, उसकी सफाई, रक्षा, सजावट में प्रीति होना यह धर्मगुरु और धर्मदेव के प्रति बहुमान का सूचक है और धर्म साधन की रक्षा है। धर्म के स्थान मुख्य रूप से धर्मज्ञान देने वाले विद्यालय, पाठशालायें हैं, उनके करने का भाव, विद्यार्थियों के ज्ञान के साधन जुटाने के भाव ये सब परिणाम उच्च गोत्र का आस्रव कराते हैं। धर्म के साधनभूत अन्य समारोह

आदिक भी होते हैं, उनमें भी आदर रखना प्रौर प्रभु जिनेन्द्र के मार्ग की प्रभावना हो रही है, ऐसा प्रसन्नता का भाव रखना, ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारणभूत है ।

सूत्र 6-27

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥६-२७॥

(१०१) दानादि में विघ्नकरण की अन्तरायास्रवहेतुता—विघ्न करना अंतराय के आस्रव का कारण है । किनमें विघ्न करना ? दान आदिक जो शुभ क्रियायें हैं उनमें विघ्न करना अंतराय का आस्रव कराता है । दान आदिक का निर्देश पहले सूत्र में कर दिया है । वे ५ होते हैं १-दान २-लाभ ३-भोग ४-उपभोग और ५-वीर्य । इनका हनन करना विघ्न कहलाता है । विघ्न शब्द में वि तो उपसर्ग है और हन् धातु से घन् प्रत्यय होकर विघ्न शब्द बना है । तो विघ्न कहलाता है किसी कार्य का प्रतिघात कर देना, रोक देना, कार्य का न होने देना सो विघ्न अंतराय कर्म का आस्रव कराता है । इस सूत्र में मूल रूप से तो ५ बातें कही गई हैं १-दानमें विघ्न करना—कोई दान देता हो उसको रोक देना, चाहे संकेत से रोके चाहे किन्हीं वचनों से रोके चाहे कायचेष्टा से रोके इससे दानान्तराय का आस्रव होता है । जिसके उदय में इसे खुद लाभ न होगा और इसके भी दान का भाव न हो सकेगा । लाभान्तराय—किसी के लाभ में अन्तराय डालना, कुछ वस्तु किसी को प्राप्त होती हो उद्यम से या अन्य प्रकार से, उसमें विघ्न डाल देना यह लाभान्तराय का आस्रव कराता है । भोगान्तराय भोग की वस्तुवें, विषयों के साधनभूत जो पदार्थ एक बार भोगने में आये ऐसे भोजन आदिक उनके भोगने में विघ्न डालना भोगान्तराय का आस्रव कराता है । उपभोगान्तराय—उपभोग की वस्तुवों में विघ्न डालना । उपभोग वाले पदार्थ वे कहलाते हैं जो बार-बार भोगने में आयें । जैसे कुर्ता कमीज, बर्तन आदिक जो रोज-रोज भोगने में आते हैं । तो ऐसे उपभोग वाले पदार्थों में विघ्न करना उपभोगान्तराय है । वीर्यान्तराय वीर्य अर्थात् शक्ति, उसके प्रकाशन में प्रकट करने में विघ्न डालना, किसी की शक्ति के साधनों में विघ्न डालना वीर्यान्तरायकर्म का आस्रव कराता है । इस प्रकार ये मूल रूप से न कारण बताये गए हैं । अब इनके विस्तार में अन्य कारण का कथन करते हैं ।

(१०२) ज्ञानप्रतिषेध आदि कुछ परिणमनों की अन्तरायास्रवहेतुता—किसी के ज्ञान का प्रतिषेध कर देना । कोई ज्ञान की चर्चा कर रहा हो, दूसरे ज्ञानी के ज्ञान की प्रशंसा कर रहा हो अथवा कोई ज्ञान दे रहा हो तो वहाँ उस ज्ञान का निषेध कर देना, उसकी अनावश्यकता बताकर अथवा ज्ञान के दोष बताकर किसी भी उपाय से ज्ञान का निषेध कर देना अंतराय कर्म का आस्रव कराता है । किसी के सत्कार का विनाश कर देना, कोई अभ्यागत आया है या विद्वान साधु संत पुरुष आया है और उसका लोग विशेष सत्कार करने की उद्यम कर रहे हैं तो उसमें विघ्न डालना उसे न होने देना, ऐसे वचन बोलना कि जिससे लोंगों को उससे उपेक्षा हो जाये तो यह सत्कारोपघात कहलाता है । इससे अंतरायकर्म का आस्रव होता है । कोई दान देता हो उसके दान में विघ्न करना, अनावश्यक है या यह पात्र नहीं है यह व्यर्थ जायेगा या इतनी गुञ्जाइस कहां है, कैसा ही समझकर

उस दान में विघ्न करना, किसी के लाभ में विघ्न करना, किसी उद्यम से कुछ प्राप्ति होने वाली हो तो उसमें अड़चन लगा देना, भोगोपभोग वीर्य में विघ्न डालना, स्नान में अंतराय करना, स्नान भी तो एक भोग वाली बात है जिसमें लोग प्रसन्न रहा करते हैं और जिससे लोग सुख अनुभव करते हैं, उनके स्नान में बाधा डालना जैसे पानी लुढ़का दे या प्रतिकूल बात बोल दे । अनुलेपन में विघ्न करना, जैसे शरीर में कोई मालिस की जाती हो, कोई गंध वाली चीज का लेप किया जाता हो तो ऐसी क्रियाओं में लोग सुख साता का अनुभव करते हैं । उनके ऐसा शौक होता है, पर कोई उनकी इस बात में विघ्न डाल दे तो वह अन्तराय के आस्रव के कारण होता है, ऐसे ही गंध माल्य भूषण वस्त्र आदिक में विघ्न डालना, किसी के शयन में (सोने में) विघ्न डालना सोने न देना, बीच में ही जगा देना अथवा शयन का साधन मिटा देना ऐसे ही आसन का साधन मिटा देना, बैठने को स्थान न देना ये सभी विघ्न अन्तराय कर्म का आस्रव कराते हैं ।

(१०३) भक्ष्यभोज्यविघ्नकरणादि कतिपय परिणमनों की अन्तरायास्रवहेतुता—जो पदार्थ भक्ष्य हैं, भोज्य हैं, लेह्य हैं और पेय हैं उन पदार्थों के भोगने में विघ्न डालना । भक्ष्य पदार्थ वे कहलाते हैं जिन पदार्थों के खाने से पेट भरे, रोज खाये जायें, जैसे दाल, रोटी, चावल आदि । भोज्य पदार्थ वे कहलाते हैं कि जो रोज भरपेट तो नहीं खाये जा सकते, पर उनकी रुचि होती है, स्वादिष्ट लगते हैं । कुछ भूख भी मिटती है जैसे लड्डू, पेड़ा बरफी आदिक, लेह्य पदार्थ वे कहलाते हैं जो चाटकर खाये जाते, जैसे चटनी और पेय पदार्थ वे कहलाते जो पिये जाते, जैसे ठंडाई, दूध, पानी आदिक । इन पदार्थों का कोई भोग करता हो या भोग करने का उद्यम करता हो तो उसके भोगने में बाधा डालना, ये सब अन्तराय कर्म के आस्रव कराते हैं । किसी का वैभव देखकर अथवा किसी की समृद्धि को निरखकर उसमें विस्मय करना—कैसे मिला है, कैसे मिल गया है उसका आश्चर्य बनाना यह अन्तराय का आस्रव कराता है, क्योंकि इतना ज्ञान नहीं है कि ये सब बाहरी पदार्थ हैं, इनका आत्मा से क्या सम्बंध है? ये तो ऐसे ही दुनिया में पड़े रहते हैं । कुछ पुण्य का उदय है कि जिसे वह इष्ट समझता है उसका समागम हो जाता है, पर ये सब कलंकरूप हैं । उस पर क्या आश्चर्य करना? ऐसा ज्ञान नहीं है किन्तु खुद उस का लोभी है । और, दूसरों को प्राप्त हो तो उसमें विस्मय है, और वह विस्मय भी अपने भीतर एक ऐसा न मिलना चाहिए था, इस भाव को लिए हुए है । सो यह भी अन्तराय का आस्रव कराता है । द्रव्य का त्याग न करना—खुद के पास धन वैभव का खूब साधन है, पर दूसरों के उपयोग के लिए उसका व्यय न कर सकना और केवल खुद के और अपने परिणमन के लिए ही यह द्रव्य है ऐसा निर्णय बनाये रखना, ऐसी कृपणता अन्तराय का आस्रव कराती है । द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, कोई देता हो वह न सुहाये, कोई पदार्थ का उपयोग करता हो तो उसका साधन बनाने में प्रमाद बनाना देवताओं के लिए जो निवेदित किया गया अर्थात् नैवेद्य चढ़ाया गया या जो नैवेद्यरूप से नहीं, किन्तु व्यवस्था के रूप से रखा गया ऐसे द्रव्य को ग्रहण करना अर्थात् मंदिर, संस्था आदिक के द्रव्य को हड़प लेना यह सब अन्तरायकर्म का आस्रव कराता है । कोई निर्दोष उपकरण हों किन्तु मन के माफिक सजे धजे शौक शान वाले न हों तो उनका त्याग करना, दूसरे की

शक्ति को मिटाना, धर्म में विच्छेद डालना ये सब अंतराय के आस्रव के कारण हैं ।

(१०४) तपस्विगुरुचैत्यपूजाव्याघात आदि परिणमनों की अन्तरायास्रवहेतुता—कोई तपस्वी गुरु उत्तम चारित्र वाले हैं और उनका लोग पूजा सत्कार करते हैं तो वह न सुहाये और उनकी पूजा में विघ्न डाले अथवा मंदिर आदि में, मूर्ति चैत्य की पूजा में विघ्न डाले, कोई पुरुष किसी दीक्षित, साधु को कोई द्रव्य दे रहा है या असमर्थ दीन को कोई द्रव्य दिया जा रहा है तो ऐसे दिए जाने वाले वस्त्र, पात्र आदिक में विघ्न करना वे अन्तराय के आस्रव के कारण हैं । दूसरे पुरुषों को रोक देना, किसी जगह बंद कर देना, किसी चोर को बाँधना, जो गुह्य अंग हैं उनका छेदन करना, कान, नाक, ओंठ आदिक का काट देना, किसी प्राणी का वध करना, ये सब अन्तराय कर्म का आस्रव कराते हैं । इस सूत्र में और इससे पहले वाले आस्रव प्रसंग के सूत्रों में जो अनेक कारणों का ग्रहण किया गया है सो वह इति शब्द की अनुवृत्ति से किया गया है । सर्वप्रथम सातावेदनीय के आस्रव का कारण बताने के लिए सूत्र कहा गया था—भूतवब्रत्यनुकम्पादि, उसमें इति शब्द पड़ा है । जो कारण कहने थे वे कारण तो कह दिये और इसके बाद इति शब्द आया है, जैसे क्षमा, पवित्रता आदिक । सो उस इति शब्द का आगे के सब सूत्रों में प्रकाश आ रहा है और उस इति शब्द द्वारा वह सब ग्रहण किया जा रहा है । आस्रव का वर्णन करने वाले इस छठे अध्याय में इस अंतिम प्रसंग में आगे कर्मों के आस्रव के कारण बताये हैं सो इन आस्रव की विधियों से ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों का आस्रव बंध होता है । जैसे कि कोई शराबी नशा लाने वाले मदिरा को पीकर उसके नशे में अनेक विकारों को करता है अथवा कोई रोगी जिस अपथ्य आहार से रोग बढ़ता है उसी अपथ्य आहार को बड़ी रुचि से खा लेता है तो उसके बात, पित्त, कफ आदिक अनेक रोग विकार उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही यह जीव आस्रव करने वाले इन उपायों से ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मों का आस्रव कराता है और नाना संस्कार विकारों को प्राप्त होता है ।

(१०५) सूत्रोक्त आस्रवहेतुवाचक शब्दों में आस्रवहेतुत्व के हेतु की झांकी—यहाँ कोई यह शंका करता है कि आस्रव के कारण तो बताये गए बहुत, पर उनके साथ हेतु नहीं बताया गया कि ऐसा करने से इन कर्मों का आस्रव क्यों होता? उसका कारण क्या है? तो जब हेतु नहीं बताया गया तो इस आस्रव का नियम सिद्ध नहीं होता, पुष्टता नहीं आती कि ऐसा करने से अमुक पदार्थ का आस्रव होता ही है । जो भी वर्णन हेतुपूर्वक होता है वही विद्वानों के द्वारा ग्राह्य होता है । तो यहाँ हेतु न कहने से यह आस्रव का कथन प्रामाणिक कथन नहीं बन सकता । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि कितने ही प्रकरण ऐसे होते हैं कि उनका हेतु उन शब्दों के बोलने से ही सिद्ध हो जाता है । जैसे कहा कि किसी के ज्ञान से ईर्ष्या करना, ज्ञान के साधनों में विघ्न डालना ज्ञानावरण का आस्रव कराता है तो उसके सुनते ही हेतु मन में आ जाता है कि जब दूसरे के ज्ञान से ईर्ष्या कर रहे तो इसको भी ज्ञान न मिले, ऐसे कर्मों का आस्रव होगा ही । तो कितनी ही बातें ऐसी होती हैं कि जो एकदम सिद्ध हैं, जैसे दीपक घट पट आदिक पदार्थों का प्रकाशक होता है । अब उसमें कोई हेतु पूछे कि यह दीपक किस कारण से प्रकाश करता है तो भाई वह तो उसका स्वभाव है और अपने स्वभाव में व्यक्त हो रहा है, तो ऐसे ही शास्त्र भी जो पदार्थ जैसे हैं, सत् हैं, जिस तरह हैं, उस तरह बताया करते हैं, और फिर सभो

वादी प्रतिवादी अपने यहाँ शास्त्रों को पदार्थ प्रकट करने वाला मानते हैं, फिर यहाँ तो जो कुछ कहा गया है वह अतिशय ज्ञान वाले के द्वारा कहा गया है। मूल में तो सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया है, फिर उनके उपदेश को ग्रहण कर गणधर आचार्य आदिक के द्वारा कहा गया है। तो जो शास्त्रों में वर्णन है वह ऐसा ही है जैसा कि कहा गया है। जितने भी अन्य प्रवादी हैं उन्होंने अपने अपने सिद्धान्त में पदार्थ की व्यवस्था बनायी है। कोई पृथ्वी आदिक द्रव्य को मानते हैं, उनका स्वभाव कहते हैं, कठिन स्वभाव है, जल का द्रव स्वभाव है, अग्नि का उष्णता स्वभाव है, वायु का चलना स्वभाव है, यों वे वस्तु के स्वभाव को प्रकट करते हैं। अब वहाँ कोई कहे कि हेतु बताना चाहिए कि वायु के चलने का स्वभाव क्यों है? जो बात जैसी है उसका वर्णन किया जा रहा है तो ऐसा अन्य सभी सिद्धान्तों में पदार्थों के स्वरूप का वर्णन किया है, और फिर जैनशासन में तो सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रत्यक्ष जाने गए गणधर आदिक प्रभुओं के द्वारा भी एक देश प्रत्यक्ष देखा गया ही श्रुतज्ञान के द्वारा प्रमाणित किया गया है। इसलिए यह उलाहना देना ठीक नहीं है कि जो सूत्रों में आस्रव के कारण बताये हैं तो उनका नियम नहीं बैठता।

(१०६) सूत्रोक्त परिणमनों का नियतकर्मास्रवहेतुत्व बताने का प्रयोजन नियतकर्मानुभागबंध की मुख्यता का प्रतिपादन—अब एक शङ्काकार कहता है कि जो कारण बताये गए हैं किसी कर्म के आस्रव के सो उस परिणाम द्वारा तो सभी कर्मों का आस्रव होता है, क्योंकि आयुर्कर्म को छोड़कर एव कर्मों का आस्रव संसार के सर्वसाधारण जीवों के निरन्तर होता रहता है। तो परिणाम चाहे वह प्रदोष का हो, जिसको बतला रहे कि ज्ञानावरण का आस्रव कराता है किन्तु उस प्रदोष परिणाम के प्रकट होने पर अन्य कर्मों का भी तो आस्रव होता रहता है। फिर तो जो भी आस्रव बताये गए हैं उनका नियम नहीं ठहर सकता कि अमुक काम करने से अमुक कर्म का आस्रव होता है, क्यों नियम नहीं ठहर सकता कि अनेक कर्मों का आस्रव उस परिणाम से होता है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं। यद्यपि यह बात है कि किसी प्रदोष आदिक परिणाम के होने पर अनेक कर्मों का आस्रव होता है याने सूत्र में जिस परिणाम को जिस कर्म के आश्रय का कारण बताया है उसके अलावा अन्य कर्मों का आस्रव होता है, किन्तु ऐसा होने पर भी विशेषता के कारण भिन्न-भिन्न कर्मों का नाम दिया गया है। जैसे ज्ञान में प्रदोष करने से यद्यपि प्रदेशबंध सभी का होता है किन्तु विशेषतया अनुभागबंध ज्ञानावरण का होता है। इस कारण ज्ञानावरण के आश्रय के कारण में इस ज्ञानप्रदोष को दिया गया है। तो इसी प्रकार जिन-जिन कर्मों के आस्रव के कारण बताये गए हैं उन परिणामों द्वारा उन कर्मों का अनुभाग बंध विशेष होता है और अन्य कर्मों का साधारण होता है। इस विशेषता के कारण यहां आस्रव का नियम बनाया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के प्रथम सूत्र में जो बताया था कि काय, वचन, मन के कर्म योग हैं और वे आस्रव के कारण हैं। सो उस आस्रव के सम्बन्ध में जो प्रायोजनिक ज्ञेय तत्त्व था उसका यहां निरूपण किया गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन एकोनविंश भाग समाप्त ॥